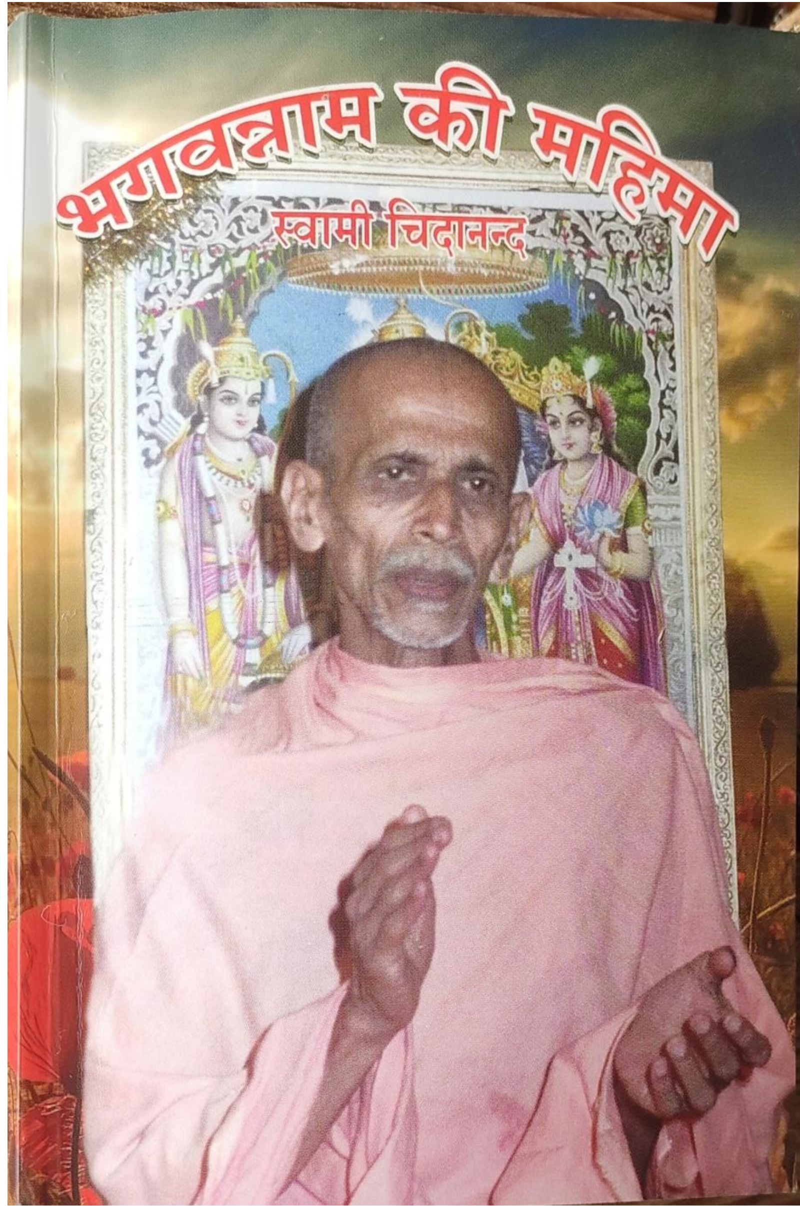


भगवन्नाम की महिमा

स्वामी चिदानन्द

प्रकाशक
द डिवाइन लाइफ सोसायटीना
पत्रालय : शिवानन्दनगर-२४९१९२
जिला : टिहरी गढ़वाल, उत्तराखण्ड (हिमालय), भारत
www.sivanandaonline.org, www.dlshq.org

प्रथम संस्करण : २०१७
(२,००० प्रतियाँ)

परम पूज्य श्री स्वामी चिदानन्द जी
महाराज के
१०१वें जन्मदिवस के
पावन अवसर पर प्रकाशित

निःशुल्क वितरणार्थ

'द डिवाइन लाइफ सोसायटी, शिवानन्दनगर' के लिए
स्वामी पद्मनाभानन्द द्वारा प्रकाशित तथा उन्हीं के द्वारा 'योग-वेदान्त
फारेस्ट एकाडेमी प्रेस, पो. शिवानन्दनगर-२४९१९२,
जिला टिहरी गढ़वाल, उत्तराखण्ड' में मुद्रित ।
For online orders and Catalogue visit: disbooks.org

विषय-सूची

१

भगवन्नाम की महिमा

(१ मुम्बई में ३१.८.८४ को दिया गया प्रवचन)

प्यारे उज्वल आत्मस्वरूप, परमपिता परमात्मा की दिव्य अमर सन्तान !

मानव जन्म ऊर्ध्वगामी प्रगति का द्वार है। पशु-पक्षी, कीट-पतंग, अन्य प्राणी वर्ग में और मनुष्य के जीवन में यही अन्तर है। अन्य पशु वर्ग जिस भूमिका में अपना जन्म लेते हैं, उसी भूमिका में, उसी स्तर पर जीवन पर्यन्त व्यवहार एवं चेष्टा करते रहते हैं। अपनी आयु को पूरी करके उसी भूमिका में अपने जीवन का अवसान कर देते

हैं। शारीरिक दृष्टि से तो प्रगति होती है, खा-पीकर, मेहनत करके, आराम करके हृष्ट-पुष्ट बनते हैं, किन्तु किसी प्रकार की मौलिक आन्तरिक प्रगति नहीं होती है। उनका वर्ग ही ऐसा है कि कोई प्रगति की गुंजाइश ही नहीं है, प्रबन्ध नहीं है। केवल मात्र जीवात्मा जब मानव के रूप में आता है तो उसके लिए ऊर्ध्वगामी प्रगति के लिए द्वार खुल जाता है। इस ऊर्ध्वगामी प्रगति की सीमा कहाँ है? इसकी सीमा भगवदाकार अवस्था को प्राप्त करने तक है। मनुष्यत्व प्राप्त होने का अर्थ यही है कि परिपूर्ण दिव्यता की ओर आपकी यात्रा प्रारम्भ हो गई है।

हमारे ऋषि-मुनि, ज्ञानी, सन्त एवं तत्त्ववेत्ता महापुरुषों ने अपनी अपरोक्ष अनुभूति से जान लिया था कि परब्रह्म तत्त्व से सब कुछ प्रकट हुआ है। परब्रह्म तत्त्व के आधार पर ही सब कुछ अस्तित्व में है और अन्त में परब्रह्म तत्त्व में लीन होने के लिए ही सब कुछ प्रस्तुत है। भगवान् अथवा ब्रह्मन् ही हमारा आदिमूल, सूक्ष्म, अदृश्य आधार है। हमारे जीवन का अन्तिम लक्ष्य भी यही है, हमारा जीवन तभी सफल होगा जब हम, जहाँ से हमारी उत्पत्ति है, वहीं जाकर विलीन हो जाएँगे, जैसे नदियाँ सागर में समा जाती हैं।

भगवान् की परिपूर्ण दिव्यता को प्राप्त करना ही प्रत्येक जीवात्मा का परम सौभाग्य है। भगवान् ने जब जीवात्मा को यहाँ पर भेजा तो साथ में ऊर्ध्वगामी प्रगति के लिए सामग्री भी भेज दी। मुख्य सामग्री क्या है? मानव व्यक्तित्व में चार प्रकार की शक्तियाँ निहित हैं- शरीर की क्रिया शक्ति, मन की चिंतन शक्ति, हृदय की भाव शक्ति तथा बुद्धि की विवेक-विचार करने की शक्ति। नित्य-अनित्य क्या है? परिपूर्ण-अपूर्ण क्या है? आत्म तत्त्व अनादि-अनन्त है और अनात्मा अनित्य, नाशवान, अशाश्वत है-ऐसा विचार बुद्धि के द्वारा ही किया जा सकता है। भगवतोन्मुख दिशा में प्रवृत्त होकर हर दिन ऊँचा उठने के लिए इन चारों शक्तियों को लगा देना ही दिव्य जीवन है। भगवान् ने परिपूर्ण दिव्यता प्राप्त करने के उद्देश्य से ही मानव को ये क्षमताएँ देकर भेजा है। भगवान् ने हमें यहाँ हाय-हाय करके रोने के लिए नहीं भेजा है। तापत्रय, जन्म-मृत्यु, जरा-व्याधि एवं सुख-दुःख आदि को अनुभव करने के लिए नहीं भेजा है, ये सब गौण हैं। पूर्वजन्मकृत शुभाशुभ कर्मों के कारण सुख-दुःख आदि अनुभवों को भोगना अनिवार्य है, क्योंकि कर्मों के हिसाब को यहाँ खत्म करना है। जीवन में आये हुए भोगों को भोगते समय तुम्हारे मन की क्या वृत्ति है, भगवान् के द्वारा दी गयी शक्तियों का कैसे प्रयोग कर रहे हो ? यही जीवन का सच्चा एवं असली स्वरूप है, सारभूत तत्त्व है, मार्मिक अर्थ है। हमारे भविष्य का निर्माण भोग से नहीं होता, आगामी कर्मों से होता है जिसे उचित पुरुषार्थ कहते हैं। भविष्य का निर्माण काला होना चाहिए या सुनहरी, दुःखमय होना चाहिए या सुखमय? इसका सटीक उत्तर यही है कि कोई भी दुःख दर्द को नहीं चाहता, सभी सुखमय जीवन चाहते हैं, उज्वल भविष्य एवं शान्तिपूर्ण जीवन चाहते हैं। अन्त में जाकर परिपूर्ण दिव्यता को प्राप्त करने के लिए साधना करने का, उचित पुरुषार्थ करने का समय यही है। यदि इस समय को हमने खो दिया तो आगे अवसर नहीं मिलेगा। अतः ऐसे कर्म करें जिससे हमें सन्तुष्टि एवं प्रसन्नता मिले, कर्म हमें रूलाएँ नहीं। भगवान् ने हमें जब मानव जीवन का अमूल्य उपहार दिया है तो अपने परम लक्ष्य को प्राप्त कर लें।

लोग प्रश्न करते हैं कि महान् लक्ष्य की प्राप्ति से क्या प्रयोजन है? इसका प्रयोजन यही है कि परिपूर्ण दिव्यता को यहीं पहचान कर प्राप्त कर लेते हैं। भगवान् की क्या अवस्था है एवं क्या स्वरूप है? इस सम्बन्ध में भगवान् के अनुभव को प्राप्त किये हुए तत्त्ववेत्ता, ब्रह्मज्ञानी उपनिषद् में बताते हैं। भगवान् का अनुभव क्या होता है? भगवान् का अनुभव शत प्रतिशत केवल मात्र अवर्णनीय दिव्य आनन्द है। अद्‌भुत अतुलनीय आनन्द-इसमें किसी अन्य तत्त्व का मिश्रण नहीं है। प्रपंच में मिश्रित अनुभव होते हैं, सुख चाहते हो तो दुःख का अनुभव लेना ही पड़ेगा। द्वन्द्व से परे जाकर केवल आनन्द के अनुभव को प्राप्त करना है तो उसका एक ही उपाय है कि आनन्दस्वरूप पर ब्रह्म तत्त्व ईश्वर के सान्निध्य में ही निवास करें। वे ही हमारे सर्वस्व, माता-पिता, बन्धु-सखा, बुद्धि एवं धन हैं। प्रातः रोजाना प्रार्थना करके, हमने उनको पूजा घर में ही सीमित कर दिया है, व्यवहार क्षेत्र में भगवान् भूल जाते हैं इस कारण हम भगवान् के परमानन्द से वंचित रह जाते हैं। यदि वे हमारे सर्वस्व हैं तो उनको प्राथमिकता देकर जीवन में केन्द्रीय स्थान देना चाहिए। प्रपंच में मनसा वाचा कर्मणा सबसे अधिक उनको मूल्यता देकर भगवतोन्मुख चेष्टा होनी चाहिए। यदि उनको प्राप्त कर लिया तो सब कुछ प्राप्त कर लिया। यदि सब कुछ

प्राप्त कर लिया और उनको प्राप्त नहीं किया तो कुछ भी प्राप्त नहीं किया, जीवन को वृथा खो दिया। जैसे अध्यापक बोर्ड पर चॉक से ज़ीरो-ज़ीरो लिखता जाये तो उसका कोई मूल्य नहीं होता। यदि उसके आगे एक लिख दे तो एक ज़ीरो से दस, दो ज़ीरो से सौ, तीन ज़ीरो से हजार, इस प्रकार लाख-करोड़ बढ़ते चले जायेंगे। यदि एक नहीं है तो हज़ार ज़ीरो भी शून्य ही कहलायेंगे।

संसार के दुःख-शोक, संकट-तकलीफ, चिंता से मुक्त होकर अनादि अनन्त काल के लिए अपने आप को निरन्तर आनन्द में ही स्थापित करना चाहते हैं तो प्रभु प्राप्ति के मार्ग में अभी से लग जाना चाहिए। समय बड़ा विचित्र है। मिनट, घड़ी, दिन-रात सप्ताह-मास और वर्ष कैसे चले जाते हैं, पता ही नहीं पड़ता। ऐसे लगता है जैसे कल ही हम छोटे बच्चे होकर स्कूल पढ़ने जाते थे और अब यहाँ से चले जाने की अवस्था आ गयी है। यह भगवान् की प्रबल माया ही है कि व्यक्ति को समय का व्यय और आयु की क्षीणता का भान ही नहीं होता। इसलिए अपने लक्ष्य की प्राप्ति में विलम्ब नहीं करना चाहिए। तुरन्त ऐसे सत्कार्यों में लग जाना चाहिए जो हमें भगवान् के निकट पहुँचाते हैं। सदाचारपूर्ण और परोपकारमय सुन्दर सात्विक जीवन में लग जाना चाहिए, यही सुन्दर अवसर है।

भगवान् के अनेक स्वरूप एवं शक्तियाँ हैं। हर एक शक्ति का एक साकार स्वरूप मानकर हम उनकी उपासना करते हैं। वैसे तो हम सत्य सनातन वैदिक धर्म के अनुयायी हैं तो एक ही भगवान् में विश्वास रखते हैं 'एकमेव अद्वितीयं ब्रह्म' भले ही अनेक नाम हों लेकिन ब्रह्म एक ही है, अद्वितीय है। इस अद्वितीय तत्त्व को ईश्वर, परब्रह्म कहते हैं। किन्तु रूप या आकृति का अवलम्बन नहीं होता है तो मानव का मन टिकता नहीं है। केवल सूक्ष्म, अव्यक्त, अदृश्य के ऊपर मन को टिकाये रखना कठिन है। मन चंचल एवं स्थूल है। सूक्ष्मता को प्राप्त करने के लिए मन को भले ही लगाये रखो लेकिन हजार में से नौ सौ निन्यानवे के मन में इतनी सूक्ष्मता नहीं है कि निराकार तत्त्व पर उनकी धारणा हो जाये। हमारे मन की कमी और कमज़ोरी के कारण हम निराकार तत्त्व का ध्यान नहीं कर सकते हैं। भगवान् की उपासना, प्रार्थना, ध्यान करने में मन को सहायता मिल सके, इसलिए भगवान् ने असीम कृपा से अपने साकार स्वरूप को प्रकट किया है।

वर्तमान समय में जो गणेश चतुर्थी की वार्षिक पूजा हो रही है, वह परब्रह्म परमात्मा की शक्ति का प्रकट स्वरूप है। यह शक्ति, मानव जीवन की प्रगति में जितनी भी बाधाएँ आती हैं, उनका नाश कर देती है। हमें सत्य संकल्प करके अच्छे कार्यों में लग जाना चाहिए। पुरुषार्थ को सफल करने वाली, हमारे कार्यों को सिद्ध करने वाली, भगवान् की इस शक्ति को कहते हैं 'गणेश' जो विघ्नविनायक हैं, सिद्धिदायक हैं, इसलिए इनको 'सिद्धि विनायक विघ्नेश्वर' कहते हैं। सब विघ्नों का विनाश करने वाले तथा सिद्धि प्रदाता हैं। हमारा सौभाग्य है कि उनके आशीर्वाद से मानव जीवन को परिपूर्ण करने वाला, मानव को आप्तकाम और कृत-कृत्य करने वाला उनका यह स्वरूप है।

आज गणेश पूजा का पुण्य पर्व है। परम लक्ष्य एवं परम कल्याण प्राप्ति का जो उद्देश्य है, उसे सर्वभाव से प्राप्त करने का यह शुभ मुहूर्त है। यदि सत्य संकल्प लेकर साधनामय जीवन बना लेंगे, परोपकार, भक्ति, भजन, योगाभ्यास में लग जायेंगे तो प्रभु के आशीर्वाद, अनुग्रह एवं कृपा से सफलता अवश्य मिलेगी। साथ ही काया वाचा मनसा हमारे बाहरी क्षेत्र में समस्त व्यवहार को इस प्रकार करें जो हमें भगवान् की ओर ले जाये। कौटुम्बिक व्यवहार में, औद्योगिक क्षेत्र में, सामाजिक क्षेत्र में भी भगवतोन्मुखी दिशा होनी चाहिए। समस्त व्यवहार में धर्म तत्त्व व्यापक रूप से विराजमान होना चाहिए। धार्मिक जीवन भगवान् की तरफ ले जाता है। अधार्मिक जीवन भगवान् से वंचित कर देता है।

हमारे पूर्वजों ने पुरुषार्थ चतुष्टय में धर्म को प्रथम स्थान दिया है। धर्म के विस्मरण से खाने, पीने, कमाने में विषमता आ जाती है। व्यास भगवान् ने अठारह पुराण, ब्रह्मसूत्र, भागवत, महाभारत में मानव के लिए सुख प्राधि का मार्ग बताया है। जो धर्म का अनुसरण करता है उसे सुख मिलेगा। आर नहीं तो कल मिलेगा, यह त्रिबार सत्य

है। बड़े आश्चर्य की बात है कि हम सुख को चाहते हैं और उल्टा काम करके सुख से वंचित हो जाते हैं। हम अपने व्यवहार में व्यापक रूप से धर्म को बनाये रखें। हृदय में प्रभु के प्रति प्रेम रखें । सर्वदा उनका चिंतन करें। नित्य अनित्य का विवेक हो और सदा नित्य की ओर ही जायें।

सत्य संकल्प लेने के लिए, निश्चयात्मक निर्णय करने के लिए और नये रास्ते में प्रवृत्त होने के लिए आज अच्छा सुन्दर समय है, अतः विलम्ब नहीं करना चाहिए। यह शुभ मुहूर्त केवल पटाखे छोड़ कर खुश होने के लिए नहीं है, बल्कि जीवन में नयी ज्योति जगाने, जीवन को नयी दिशा देने, नये अर्थ को प्राप्त करने का है। जीवन में क्रांतिकारी परिवर्तन लाकर दिव्य जीवन बनाने का है। कबीर दास जी कहते हैं कि इस अवसर को खोना नहीं चाहिए क्योंकि 'जब चिड़ियन खेती चुगि डाली फिर पछताये क्या होवत है जो भी सत्कार्य सामने आ जाये, उसी समय कर देना चाहिए। कहा गया है,

कालक्षेपो न कर्त्तव्यः क्षीणमायु क्षणे क्षणे।
यमस्यकरुणानास्ति कर्त्तव्यं हरि कीर्तनम् ।।

कर्त्तव्यं हरि चिन्तनम् ।

प्रभु आपको ऐसी आन्तरिक शक्ति दें। घर-बार छोड़कर अरण्य में जाकर गुहा-कन्दरा में बैठकर भगवान् प्राप्त होते हैं, ऐसी बात नहीं है। हम अपने व्यावहारिक जीवन को धर्ममय, भक्तिमय, दिव्य जीवन बनाकर रखेंगे तो ये सब यहीं भगवद् प्राप्ति के लिए सोपान बन जायेंगे। सदा सर्वदा भगवान् का स्मरण करें एवं मुख से नाम रटते रहें। नाम भगवान् का साक्षात् स्वरूप है। नाम और नामी में कोई अन्तर नहीं है, दोनो परस्पर अभिन्न हैं।

वेदान्त भी इसकी पुष्टि करता है। अप्रकट 'एकमेवाद्वितीयम्' अवस्था से ब्रह्म ने अनेक होने का संकल्प किया। पहले आद्य स्पंदन नाद के रूप में प्रणव प्रकट हुआ जिसे नादब्रह्म, शब्दब्रह्म कहते हैं। अन्य जितने भी भगवान् के दिव्य नाम और मन्त्र हैं, इसी शब्द का रूप रूपान्तरण हैं। साक्षात् भगवदाकार होने से हरेक नाम में भगवद् शक्ति निहित है। इसलिए जो निरन्तर भगवद् नाम लेता रहता है, उसके अन्दर आध्यात्मिक विकास एवं जागृति आ जाती है, अज्ञान का अन्धकार हट जाता है और ज्ञान की ज्योति जग जाती है। तुलसीदास जी ने कहा है—

राम नाम मनिदीप धरू जीह देहरी द्वार।
तुलसी भीतर बाहरेहूँ जो चाहसि उजिआर।।

नाम मणि दीप है जिसे यदि मुख रूपी द्वार की दहलीज में रख दिया तो बाहर भी प्रकाश है और अन्दर भी उजाला है। मणि दीप जलता नहीं है, बाकी दीप जलते हैं। मणिदीप में प्रकाश है, उष्णता नहीं है, इसमें कोई हानि नहीं है केवल लाभ ही लाभ है। विशेष करके महाराष्ट्र के जितने भी सन्त हुए हैं, उन्होंने भगवद् प्राप्ति के लिए भगवद् नाम को ही सुलभ उपाय बताया है। निरन्तर भगवद् नाम रटने से जहाँ पर तुम हो, वहीं पर आकर भगवान् दर्शन देंगे जैसे भक्त पुण्डरीक को दिया।

बहुत प्रयास करके जंगल में जाने की जरुरत नहीं है, घर में रहकर निरन्तर नाम जपते रहो, 'हरि बोल - - हरि बोल--' नाम बोलते बोलते जब आदत में आ जायेगा, तभी अन्त काल में नाम के आने की सम्भावना रहेगी। वरना अन्त में व्यवहार का चिंतन, बैंक बैलेन्स, भोजन, परिवार आदि का विचार आयेगा जो अत्यन्त हानिकारक है। एक मराठी सन्त ने इसे नाम यज्ञ कहा है- '**ज्याचे मुखी सदा हरि त्याचे यज्ञ पावली पावली।**' पावली माने

कदम। जो हमेशा नाम रटता है, उसका कदम-कदम यज्ञ के समान है, महान् यज्ञ के समान फल देने वाला है। गीता में भगवान् ने स्वयं माया से मुक्त होने के लिए उपाय बता दिया है-

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ।।

गीता - ७/१४

जो केवल भगवान् के ही शरण होते हैं, जो दैवी सम्पत्ति वाले होते हैं, वे भगवान् की गुणमयी माया से पार हो जाते हैं।

भगवान् गणेश के पुण्य पर्व पर उनके सामने यह प्रार्थना करें, संकल्प लें, 'हे प्रभो! हे नारायण! हे गणाधीश ! आपकी प्राप्ति के लिए हम जीवन में निरन्तर चेष्टा करें। आप इस संकल्प की सिद्धि में सहायता करें एवं आशीर्वाद देकर सारे विघ्न बाधाओं का नाश करें ।' ऐसी प्रार्थना करके अपने नये जीवन को प्रारम्भ करें।

' एक सार नाम हरि भज हरि
हरे हरी तेरी चिन्ता सारी।'

प्रपंच के माया बाजार में नाशवान वस्तु पदार्थों में कोई सार तत्त्व नहीं है। एक ही सार वस्तु है- भगवद् नाम, क्योंकि यह एक ही सत्य है।

आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं मायामयमखिलम् जगत्।
सत्यं सत्यं पुनर्सत्यं हरेर्नामैव केवलम् ।।

अमूल्य मानव जीवन की सार्थकता इसमें है कि हम सत्पथ पर चलकर ईश्वर प्राप्ति को अपना लक्ष्य बनाएँ। प्रपंच के वस्तु पदार्थों के मोह में न पड़कर एक ही सार तत्त्व को अपनाएँ।

'सब है समान, सबमें एक प्राण
तज के अभिमान हरि नाम गाओ
हरि नाम गाओ दया अपनाओ
अपने ह्रदय में हरि को बसाओ
हरि नाम प्यारा सबका सहारा
हरि नाम जप के सुख शान्ति पाओ।'

यह रचना ज्ञानेश्वर महाराज के गुरु श्री निवृत्ति नाथ जी की है। इस अशान्त दुःखमय प्रपंच में आपको सुख-शान्ति भगवन्नाम से ही मिल सकती है, अतः हर समय भगवन्नाम स्मरण करते रहें। हरि ॐ तत् सत्।

२

आपके जीवन में धर्म का स्थान

(सांगली (महाराष्ट्र) २५.११.८४ में दिया गया प्रवचन)

प्रिय दिव्य आत्मस्वरूप, परम पिता परमात्मा की दिव्य अमर सन्तान !

परम आराधनीय परम प्रियतम सद्‌गुरु श्री स्वामी शिवानन्द जी महाराज्ज के चरण कमलों का यह दास आज आपके समक्ष 'आपके जीवन में धर्म क स्थान' विषय पर मनन हेतु कुछ विचार प्रस्तुत करेगा ताकि आप इन विचारो पर गंभीर भाव से चिंतन करें और इनका वास्तविक अर्थ समझने का प्रयास करें। जब हम किसी एक विशेष विषय को अच्छी तरह से समझ लेते हैं तो उसमें विश्वास हो जाता है, उसमें दिलचस्पी उत्पन्न होती है, व्यवहार में उसको प्रयोग करने के लिए तैयार हो जाते हैं। जब अच्छी तरह से समझ में नहीं आता है तो उसमें हमारी किसी प्रकार की दिलचस्पी नहीं रहती, उत्साह नहीं रहता, अभ्यास करने की चेष्टा भी नहीं रहती है क्योंकि विषय स्पष्ट नहीं हुआ, पता नहीं चला कि क्या बोला है ? इसका हमारे जीवन से क्या संबंध है? क्या आवश्यकता है? हाँ, यदि समझ में आ गया है तो सहज में ही यह विचार आ जाता है कि इससे हमें कुछ न कुछ लाभ अवश्य मिलेगा। जीवन में इसका प्रयोग करके अवश्यमेव लाभान्वित हो सकते हैं।

आप सब भारतवर्ष की सौभाग्यशाली सन्तान है। धर्म क्या है? इसका ज्ञान अपने आप आपको होना ही चाहिए फिर भी मैंने धर्म के बारे में बताने का विषय रखा है। माता-पिता और अभिभावकों को अपने बच्चों को धर्म के बारे में अच्छी तरह से समझाना चाहिए। विद्यालयों में अध्यापकों को अनिवार्य रूप से धर्म का परिचय देना चाहिए, धर्म के विज्ञान को समझाना चाहिए। धर्म शब्द का अर्थ रिलीज़न, मजहब से भी लगाया जाता है। यहूदी

धर्म, ईसाई धर्म, इस्लाम धर्म, पारसी धर्म, बौद्ध धर्म, जैन धर्म, सिक्ख धर्म आदि जो विभिन्न मत-मतान्तर हैं, उनके लिए धर्म शब्द का प्रयोग करते हैं। हमारे इतिहास, साहित्य, संस्कृति में यह अर्थ लगा दिया गया है, किन्तु यह अर्थ गौण है।

हिन्दू मत का अनुसरण करने वालों के लिए हिन्दू धर्म है, उसे सत्य सनातन वैदिक धर्म कहते हैं। वेद बहुत प्राचीन काल से आये हुए ज्ञान का अद्‌भुत भण्डार हैं, यही हमारे धर्म का मूल स्रोत और उत्पत्ति स्थान है। वेद से निकले होने के कारण वैदिक और अत्यन्त प्राचीन होने के कारण इसे सनातन धर्म कहते हैं। वेद के ज्ञान के आधार पर ही हम भगवान् को मानते हैं, उनकी उपासना करते हैं। हमारी आस्तिकता, भक्ति, श्रद्धा और विश्वास धर्म के ऊपर ही निर्भर है। हमारी राष्ट्रीय संस्कृति में भी धर्म को मजहब अथवा रिलीज़न के अर्थ में प्रयोग किया है। लेकिन यह विशेष प्रयोग है। सर्वसाधारण भाषा में यह अर्थ नहीं होता है।

धर्म का मुख्य अर्थ नैतिकता है-यथा मानव जीवन में मानव के क्या कर्तव्य हैं, उसकी वाणी और व्यवहार कैसा होना चाहिए और कैसा नहीं होना चाहिए। मनुष्य जीवन को उत्तम रूप से, सुचारु रूप से, आदर्श रूप से बिताने के लिए पर्याप्त मार्गदर्शन इस धर्म में दिया गया है। जीवन के किसी भी अंग को नहीं छोड़ा गया है। मौलिक अर्थ से धर्म के विषय में अलग शास्त्र बनाया है, इसे धर्मशास्त्र कहते हैं। स्मृतियों के वर्ग में मनु स्मृति एवं पाराशर स्मृति आते हैं। मानव लोक में मानव को अपना व्यवहार कैसे करना चाहिए, कैसे नहीं करना चाहिए-यह बताया गया है। जिस प्रकार एक ड्राइवर सही मार्ग पर ठीक प्रकार से कार को ले जाता है, उसी प्रकार धर्म मानव के आचरण, चरित्र, व्यवहार के लिए मार्गदर्शन का कार्य करता है। किस तरह से हमारा विचार, व्यवहार, आचरण होना चाहिए, यह बताने वाला कौन है? उन ऋषि-मुनियों को कैसे मालूम होता है कि ऐसा करना चाहिए और ऐसा नहीं करना चाहिए। क्या वे सर्वज्ञ हैं? मेधावी हैं? कुछ लोग ऐसा प्रश्न पूछते हैं। इसका अर्थ बहुत गम्भीर, अत्यन्त विचारणीय है। जिन्होंने इस प्रकार से मानव के लिए उपदेश, मार्गदर्शन, आदेश दिया। वह किस आधार पर एवं किस अधिकार से दिया ?

उन्होंने जिस आधार पर दिया, वह केवल मात्र उनके हृदय में मानव मात्र के प्रति सद्भावना, अत्यन्त दया भाव एवं विश्व प्रेम था। उनका सर्वहितकारी भाव था। कोई भी मानव दुःखी नहीं होना चाहिए, सभी सुखी होने चाहिए, सभी को शान्ति प्राप्त होनी चाहिए। क्योंकि वे पहुँचे हुए कृत-कृत्य, आप्त काम महापुरुष थे। उनके लिए इस प्रपंच में कोई कार्य करने के लिए नहीं रह गया था। वे स्वच्छंद एवं स्वतन्त्र थे। भगवद् साक्षात्कार करके, आत्मज्ञान प्राप्त करके वे इस अवस्था में पहुँचे थे। इस दिव्यता को प्राप्त करने का परिणाम यह हुआ कि जो भगवान् के अन्दर दया, करुणा का भाव है, वह दया का भाव सहज रूप में, उनके हृदय में उत्पन्न हो गया। वे अति मानवीय शक्तियों के स्वामी थे, ईश्वरीय शाश्वत सत्ता में निवास करते थे। ब्रह्माण्डीय प्रेम से ओत-प्रोत थे, उन्हें दिव्य ज्ञान की सम्प्राप्ति हो चुकी थी। फिर भी उनकी सदा '**सर्वभूत हितेरताः**' की चेष्टा रहती थी। प्रारब्धानुसार प्रपंच में रहते हुए हमें अन्तिम श्वास तक लोक कल्याण एवं मावन मात्र का हित करते हुए यहाँ से चले जाना है, यही विचार उनके अन्दर था क्योंकि उन्होंने अद्वैत सिद्धि को प्राप्त कर लिया था। एक ही आत्मा सर्व भूतों में अनुस्यूत है, एक ही जीवन शक्ति है, जो हमारे हृदय में है, वही सबमें है। हमारे से अन्य कोई नहीं है, सब हमारे ही स्वरूप हैं।

'**अयं निज परो वेति गणना लघुचेतसाम्** '-छोटे मन वाले, अल्प मति वाले 'यह मेरा है' 'वह पराया है' ऐसी गणना करते हैं। '**उदारचरितानां तु वसुधैवकुटुम्बकम्**' - लेकिन जिनका मन छोटा नहीं है, जो अल्पमति नहीं हैं, उदार हैं उनके लिए विश्व के समस्त प्राणी उनका परिवार है। जीवन्मुक्त ऋषियों ने अद्वैत सिद्धि से प्रत्येक प्राणी के साथ, कीट-पतंग, वनस्पति के साथ आत्मीय एकता का अनुभव कर लिया था, वे विश्वप्रेम, भूत-दया, लोककल्याण, सर्वहितकारी भाव के कारण जीवित रहे वरना वे इच्छा मरण से शरीर छोड़ कर जा सकते थे। जीवन्मुक्त होते हुए भी इस शरीर में, बद्धावस्था में रहकर के मानव समाज एवं विश्व के लिए आशीर्वाद के रूप में

"सर्वे भवन्तु सुखिनः" के आधार पर उन्होंने धर्म का उपदेश एवं मार्गदर्शन दिया। सेवा करने से सेवक के पास कभी कभी अधिकार आ जाते हैं। जैसे वैद्य मरीज को रोगमुक्त करने के लिए इलाज कर रहा है। रोगी को तेल, खटाई, मिर्च नहीं खानी है, ऐसा आदेश लगा देता है। ऐसा आदेश लगाने का वैद्य को क्या अधिकार है? वह तो फीस लेकर आपका इलाज कर रहा है। फिर भी इलाज़ करने के कारण आपको आदेश देता है कि इस दवाई को अनुपान के साथ खाना पड़ेगा, चाहे अच्छी लगे या न लगे।

वे जीवन्मुक्त ऋषि उच्चतर दिव्य ज्ञान, आध्यात्मिक शक्ति, अक्षय दैवी सम्पत्ति से सम्पन्न थे। स्वार्थपरता से मुक्त होकर सेवा करना चाहते थे। वे विश्व-बन्धु, विश्व-मित्र थे। उन्होंने सेवा के लिए ही अपने जीवन को आहुति के रूप में अर्पण कर दिया था। इसी अधिकार से जनहित को चाहते हुए, आपके कल्याण को मन में रखते हुए धर्म शास्त्र को बनाया। कैसा व्यवहार करना चाहिए और कैसा व्यवहार नहीं करना चाहिए। क्या उचित है और क्या अनुचित है, यह सब बताया। लेकिन आप सोचते हैं कि उचित अनुचित का ज्ञान उनको किस प्रकार से हुआ। मेरे लिए क्या हितकारी है और क्या अहितकारी है— इनको क्या पता ? मेरी परिस्थितियों की कल्पना भी इनको नहीं है। कई शताब्दियों के पूर्व धर्मशास्त्र लिखे गये थे।

ऐसी बात नहीं है, भविष्य में आपके हित को ध्यान में रखते हुए नियम बनाये थे। आपका कल्याण हो, दुःखी जीवन नहीं होना चाहिए, संकटरहित सुखी जीवन होना चाहिए। इन ज्ञानी ऋषियों ने अपनी अपरोक्ष अनुभूति से, दिव्य दृष्टि से भगवान् एवं भगवान् की सृष्टि को जान लिया था। भगवान् ने जब ब्रह्माण्ड को, सृष्टि को रचाया तो उसके ऊपर एक शासन को भी लगा दिया। शासन के रहने से ही सृष्टि ठीक प्रकार से चल रही है। जैसे एक घड़ी है, उसके पता नहीं कितने भाग हैं, हर भाग अपने अपने स्थान पर रहकर, जिस तरह से उसे कार्य करना चाहिए वैसा करता रहता है। टिक-टिक-टिक, वह अपना कार्य अनुशासित रीति से, नियमित रीति से कर रहा है क्योंकि बनाने वाले ने उसको इस प्रकार से बना के रखा है।

पंचांग बनाने वाले ज्योतिषी बताते हैं कि एक वर्ष बाद, दो वर्ष बाद, पाँच वर्ष बाद अमुक समय, अमुक दिन पूर्णिमा होगी, अमुक दिन अमावस्या होगी, इस दिन सूर्य ग्रहण होगा, इस दिन चन्द्र ग्रहण होगा, इस दिन धूम्रकेतु आयेगा। उनको यह सब कैसे मालूम पड़ता है? आकाश मण्डल में अनेकानेक नक्षत्र, तारे, चन्द्रमा, सूर्य आदि हैं। यदि वे अनुशासनविहीन हों तो ज्योतिषी इनके बारे में कुछ भी निश्चयात्मक नहीं बता सकते हैं। सैकड़ों हजारों वर्षों से उन्होंने अपनी गति को अनुशासित एवं नियमबद्ध रूप से बना के रखा है। इसीलिए भगवान् की सृष्टि को कॉसमास (cosmos) कहते हैं। कॉसमास बिल्कुल नियमबद्ध अनुशासित रूप से होने वाली प्रक्रिया को कहते हैं। छिन्न-भिन्न, अव्यवस्था, गड़बड़ को केऑस (chaos) कहते हैं। कॉसमास गणित का अध्ययन करके ज्योतिष शास्त्र जो बताता है, कभी गलत नहीं होता है, आधे मिनट तक की बात बता देते हैं।

सत्य-ऋत इन दो तत्त्वों को भगवान् ने पहले बनाकर फिर सृष्टि का निर्माण किया। सत्य क्या है? हरेक वस्तु में एक मौलिक सारभूत तत्त्व है, जैसा जिसका स्वभाव, प्रकृति है उसको उसी रूप में प्रकट कर देना ही सत्य कहलाता है। अग्नि का स्वभाव जलाना है, हर परिस्थिति में हर काल में सदा सर्वदा अचूक रीति से उसको प्रकट करती है। ज्वलन शक्ति से सम्बन्धित सभी कार्यों को हम शत प्रतिशत विश्वास के साथ करते हैं। बड़े-बड़े इंजन, बड़ी-बड़ी फेक्टरियाँ इसी की सहायता से चलती हैं। रसोई का कार्य भी इसी के द्वारा होता है। यदि अग्नि अपनी सत्यता, ज्वलन शक्ति को छोड़ दे तो वह अग्नि नहीं कहलायेगी, खोटी हो जायेगी।

जहाँ पर जिस परिस्थिति में, दो तत्त्वों की जिस तरह से परस्पर प्रतिक्रिया होनी चाहिए, इसका निर्णय करने वाला ऋत है। कॉसमिक आर्डर (cosmic order) को ऋत कहते हैं। जब दो ग्रह एक दूसरे की आकर्षण शक्ति के क्षेत्र में आ जाते हैं तो दोनों ग्रह वहीं स्थित हो जाते हैं। न तो निकट आ सकते हैं और न ही दूर जा सकते हैं। इस प्रकार की परस्पर प्रतिक्रिया और उसका परस्पर सम्बन्ध बनाने वाला वैश्वात्मक तत्त्व ऋत कहलाता है।

इसके बाद भगवान् ने सृष्टि को बनाकर अपने शासन को लागू किया। विशेष करके भारतवर्ष में जन्म लेने वाले, सत्य सनातन वैदिक धर्म के अनुयायी कहलाने वालों को प्रत्येक क्षण इस शासन को याद करके अपना जीवन बनाना चाहिए। यह शासन क्या है? कार्य और कार्य का न परिणाम परस्पर जुड़े हुए हैं। कर्म और कर्म-फल भोग को हम अलग नहीं कर सकते हैं, सम्बन्ध विच्छेद नहीं कर सकते हैं। कार्य के परिणाम का अनुभव करना ही पड़ेगा। गेहूँ से गेहूँ, ज्वार से ज्वार, बाजरे से बाजरे की ही फसल प्राप्त कर सकते हैं। काँटों के वृक्ष को बोकर हम फल-फूल नहीं ले सकते हैं। जैसा कर्म वैसा फल-भगवान् ने इस शासन को मानव के ऊपर लागू किया। हमारे महान् ब्रह्मज्ञानी ऋषि मनु, पाराशर, याज्ञवल्क्य ने भगवान् को जान लिया था। ब्रह्मज्ञानी थे, अतः शासन को अनुभूति से देखा था कि किस प्रकार के विचार धारण करने, किस प्रकार का कार्य करने, किस प्रकार की बातचीत करने, आचरण और व्यवहार करने से लोगों को आगे जाकर सुख की प्राप्ति हो सकती है, कल्याण हो सकता है, हित हो सकता है, ये सब उन्होंने धर्मशास्त्र में लिखा है। व्यवहार, आचरण, वाणी से आगे जाकर दुःख संकट उठाने पड़े, कल्याण को भी नष्ट कर दें, भविष्य को अन्धकारमय बना दें, शास्त्रों में ऐसे कार्यों का निषेध किया गया है। ऐसा करने से बड़ा अपराध हो जायेगा। कर्म अभिशाप बन जायेगा। स्वयं भी दुःख प्राप्त करेगा, औरों को भी दुःख में डालेगा। इन कसौटियों पर ही उन्होंने धर्मशास्त्र लिखा है। उज्ज्वल भविष्य, प्रगति और विकासशील जीवन के लिए धर्म को अपने हृदय में केन्द्रीय स्थान देना होगा। धर्म को जीवन में सर्वश्रेष्ठ मूल्यता देनी चाहिए, इससे वंचित नहीं रहना चाहिए। इसको नष्ट नहीं होने देना चाहिए। धर्म के बिना हमारा अति मूल्यवान ऐश्वर्य चला जायेगा ऐसी भावना सदा रखनी चाहिए, और इसको प्राथमिकता देनी चाहिए।

हमारा सर्वस्व खो जाये, पर हम धर्म को नहीं खोयेंगे। यदि किसी के घर में आग लग जाती है तो वह उसको बुझाने का प्रयास करता है। दस, बीस, पच्चास के सिक्कों को बचाने का प्रयास करेगा या हीरे जवाहारात की पेटी को जिसकी सबसे ज्यादा मूल्यता है उसको बचाने की कोशिश करेगा ? लोगों के मना करने पर भी वह जोखिम उठाकर जेवर की पेटी ले आता है। उसके मन में सन्तोष रहता है कि पूरा मकान जलकर राख होने पर भी उसके पास लाखों की सम्पत्ति है। इसी प्रकार अपने प्राणों से भी ज्यादा मूल्यवान धर्म को अपने जीवन में रखने वाला बुद्धिमान है, उसका अध्ययन सार्थक है। बी.ए., बी.एस. सी., एम. एस. सी., इन्जीनियरिंग, डाक्टरी पढ़ कर यदि धर्म को नहीं जाना तो वह अज्ञानी है। यूनिवर्सिटी से डिग्री भले ही ले ली हो, लेकिन वह बुद्धिमान नहीं है। वह क्या हो सकता है? इसका अर्थ आप ही लगा लीजिए।

धर्म ही हमारा रक्षक है, यह हर प्रकार की परिस्थितियों से हमें उबारता है। धर्म हमारा सच्चा मित्र है ऐसा समझ करके जो धर्म को धारण करता है, उसका हाथ धर्म कभी भी नहीं छोड़ता है। इसी बात का अनुसरण करते हुए राजा हरिश्चन्द्र ने चाण्डाल का वेश धारण कर श्मशान में कार्य किया। अन्ततोगत्वा उसका परिणाम क्या हुआ? इसी चाण्डाल की अवस्था में ही श्मशान के अन्दर ब्रह्मा-विष्णु-महेश्वर ने प्रकट होकर दर्शन दिये। प्रशंसा करते हुए कहा, 'धन्य हो हरिश्चंद्र, धन्य हो ।' हजारों वर्ष पहले कौरव-पाण्डव थे किन्तु अभी तक हमने युधिष्ठिर राजा को अपनी स्मृति में रखा हुआ है क्योंकि वे धर्मात्मा थे, भयंकर कठिनाइयों में भी उन्होंने धर्म को नहीं छोड़ा। मर्यादा पुरुषोत्तम श्री रामचन्द्र जी को सम्पूर्ण इतिहास में एक अग्रगण्य व्यक्ति क्यों मानते हैं? क्योंकि वे धर्म के साक्षात् स्वरूप, सजीव प्रतीक थे।

धार्मिक कार्यों द्वारा सत्कर्मों के बीज वर्तमान में बोते जायें तो हमारा की भविष्य सुनहरा, सुखप्रद और आनन्दमय होगा। कोई भी शक्ति हमें इससे ? वंचित नहीं कर सकती है। धर्म साक्षात् भगवान् का प्रकट स्वरूप है। है। व्यक्तिगत जीवन में धर्म के विपरीत कार्य एवं विचार नहीं करना चाहिए । के सदैव काया वाचा मनसा पवित्र धार्मिक जीवन जीना चाहिए।

हर स्तर के लोगों के लिए धर्म मार्ग प्रशस्त करता है। प्रथम अवस्था विद्यार्थी जीवन ज्ञान प्राप्त करने, चरित्र निर्माण करने, शारीरिक बल और आरोग्य प्राप्त करने तथा मानसिक बल प्राप्त करने की अवस्था है। इसे ब्रह्मचर्य आश्रम कहते हैं। माता-पिता, ज्ञानदाता गुरुजनों के साथ कैसा व्यवहार होना चाहिए। बड़ों के साथ, मित्रों के साथ कैसा व्यवहार होना चाहिए, इसके लिए धर्म शास्त्र में रूपरेखा बनाई गई है।

उसके बाद दूसरी अवस्था गृहस्थ-धर्म की आती है। पति-पत्नी को धार्मिक जीवन में सहयोगी होकर भगवद् भजन, उपासना, व्रत-नियमारि का पालन करना चाहिए। धर्मपत्नी को पतिव्रता धर्म का पालन करना चाहिए। प्रपंच में केवल मात्र पति से ही स्त्री का व्यवहार करूँगी, सर्क मानव समाज में मातृभाव रखूँगी। तमाम मानवता के प्रति मेरा भाव, दृष्टिकोण जगन्माता जगदम्बा जानकी की तरह होगा। ऐसा उच्च आदर्श भाव, जैसे सीता जी में, सावित्री जी में, महर्षि अत्रि जी की धर्मपली अनसूया के हृदय में रहा, रखना चाहिए। ऐसे ही पति के लिए एकपत्नी व्रत धर्म है, स्त्री वर्ग में मातृ भावना, पवित्र दृष्टि रहे। अनुचित विचार स्वप्न में भी नहीं आना चाहिए। पारिवारिक क्षेत्र में यह गृहस्थ का धर्म है। अन्य व्यक्तियों की, पड़ोसियों की काया-वाचा-मनसा मदद करें। भगवान् ने जो हमें दे रखा है, उसमें से दूसरों को सुख देने के लिए भी उपयोग करें।

आगे चलकर गृहस्थाश्रम के मोह ममता में फँसे रहना, सत्य सनातन वैदिक धर्म की परम्परा नहीं है। अपने बड़े पुत्र को जिम्मेवारी सौंप देनी चाहिए। पति-पत्नी दोनों मिलकर तीर्थ पर्यटन करें। एक-दो मास तीर्थ स्थान में रहकर जप-अनुष्ठान, पुरश्चरण करें, सत्संग सुनें, श्रवण-मनन निदिध्यासन करें। अनाथ, दुःखी, गरीब, वृद्ध लोगों की सेवा करें। यह तीसरी अवस्था वानप्रस्थाश्रम है। अपने अनुभव और ज्ञान द्वारा भावी पीढ़ी का मार्ग दर्शन करना चाहिए। अब आपको चतुर्थ अवस्था संन्यासाश्रम में प्रवेश करना है। भगवत्-प्राप्ति के वास्ते परिपूर्ण रूप में जीवन अर्पित कर देना है तथा प्रपंच से कोई नाता नहीं रखना है। इस प्रकार संन्यास धर्म की रूपरेखा बताई है।

राजा को प्रजा के ऊपर किस प्रकार शासन करना चाहिए- प्रजा को अपने पुत्रवत् समझ कर अपने हितों को तिलांजलि देकर निस्वार्थ भाव से पालन करना चाहिए, यह राजधर्म है। प्रजा का धर्म 3sqrt(6) - 3sqrt(47) प्राणों का उत्सर्ग करके देश की रक्षा करना। इस प्रकार हर कार्यक्षेत्र में हर व्यक्ति के लिए विविध रूप में धर्म की व्याख्या करके समझाया गया है। इन सबकी एक ही कसौटी है-कौन-सा कर्म करने से तुम्हारा अहित हो जायेगा और कौन-सा कर्म करने से तुम्हारा कल्याण होगा। इसी आधार पर धर्म-अधर्म का विभाजन किया है। अपने धर्म को सबसे ऊँची मूल्यता देकर, केन्द्रीय स्थान में रखकर उपासना करनी चाहिए। इसी में हमारे जीवन की सच्ची सफलता एवं सुख की आशा है।

धार्मिक ग्रन्थ पुराण, रामायण, भागवत तथा महाभारत में जिज्ञासु, मुमुक्षु ज्ञानी पुरुषों के पास जाकर प्रश्नोत्तर द्वारा धर्म के बारे में जानकारी प्राप्त करते हैं। महाभारत में दस प्रकार के गुणों का वर्णन करके धर्म का लक्षण बताया है। मनु जी ने धर्म को सारांश रूप में इस प्रकार बताया है— "तुम अपने लिए जिस प्रकार के व्यवहार को नहीं चाहते हो, वैसा व्यवहार कदापि किसी के साथ नहीं करना। जिस तरह का व्यवहार औरों से तुम अपने वास्ते चाहते हो, इच्छा रखते हो ऐसा ही व्यवहार तुम्हारा दूसरों के प्रति होना चाहिए।" यही धर्म का सारभूत तत्व है, सूक्ष्म स्वरूप है।

धर्म के विरूद्ध कार्य करने से कर्म फल भोग रूपी कड़वा परिणाम सहन करना पड़ेगा, रोना पड़ेगा इसलिए मत करो। हम दुःख, हानि नहीं चाहते हैं, अपमान निंदा को सहन नहीं कर पाते हैं तो हमें दूसरों की भी निंदा, अपमान नहीं करना चाहिए, दुःख नहीं देना चाहिए, हानि नहीं करनी चाहिए। व्यास भगवान् इस प्रकार कहते हैं-"परोपकाराय पुण्याय पापाय परपीड़नम्। इससे आगे जाकर परम धर्म की घोषणा की है। है मानव! तुम जानवर या हैवान नहीं हो। ये मानव शरीर भगवान् ने तुमको इसलिए दिया है ताकि तुम परोपकार कर सको,

हितकारी कार्यों में लग जाओ “परोपकारार्थं इदं शरीरं" इस प्रकार से अपनी मानवता को परोपकार में प्रयोग करने से अपना परम हित करने में, कल्याण साधने में मानव सक्षम बन जाता है, भविष्य उज्ज्वल हो जाता है।

हमारे परम कल्याण के लिए ही भगवान् ने वैश्वात्मक कानून बनाया है- 'कर्म और कर्म फल भोग' - जैसा कर्म करता है वैसा ही भोगना पड़ता है। इसको देखकर हमारे ऋषियों ने हृदय में विश्व प्रेम के कारण, सर्व भूतों का हित चाहने के कारण बड़ी उदारता से धर्म का शास्त्र बनाकर धर्म का रहस्य बताया। हम सबका कल्याण हो, मानव समाज में शान्ति रहे, परस्पर सामंजस्य रहे, सौहार्दपूर्ण व्यवहार हो, सबका विकास और प्रगति हो। जहाँ धर्म नहीं है, वहाँ भय है। किसी ने कहा है कि मानव को भूत-पिशाच से डर नहीं है, अधर्म से डर है। जिसने धर्म को अपना लिया है, वह निडर, निर्भय होकर अपने जीवन को बना लेता है। भगवान् आपको परिपूर्ण रूप से धर्मयुक्त, धर्ममय, सफल जीवन प्रदान करें और आप अपना परम कल्याण साध लें। हरि ॐ ।

भक्ति-मोक्ष का श्रेष्ठ साधन

(भद्रक (ओडिशा) में ८-२-९० को दिया गया प्रवचन)

उज्ज्वल आत्मस्वरूप, परम पिता परमात्मा की दिव्य अमर सन्तान!

अपने अपने पूर्व जन्मकृत शुभाशुभ कर्मों के फलस्वरूप सुख दुःख आदि भोगों को भोगने के लिए, एक पार्थिव शरीर धारण करके कुछ समय के लिए क्रमबद्ध अवस्था में जीवन यात्रा को पूरा करने के लिए आप आये हैं। आप परमात्मा के अंश हैं। इसलिए आप सभी अजर अमर अविनाशी आत्म तत्त्व हैं, अनादि, अनन्त, देश-काल, नाम-रूप से परे हैं। जैसे सागर से लहर, सूरज से किरण भिन्न नहीं होती है। उसमें केवल मात्र आकृति की भिन्नता प्रतीत होती है, तात्त्विक भेद कदापि नहीं होता है। छोटी-बड़ी लहर के रूप में, भंवर के रूप में, धारा के रूप में, बुलबुले के रूप में, सागर का जल अनेकानेक रूपों में तत्काल के लिए प्रतीत होता है। प्रकट होने से पूर्व वह सागर के साथ ही रहा, कुछ समय बाद वह सिमट कर सागर में ही विलीन हो गया। अंश का स्वरूप ही यह है कि वह जिसका अंश है उससे कभी भिन्न नहीं हो सकता है।

परब्रह्म परमात्मा श्री कृष्णचन्द्र ने अपने दिव्य मुखारविन्द से हमें स्वयं ही बताया है-

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति।।
(गी. १५/७)

मेरा ही अंश प्रकृति से सामग्रियों को साथ लेकर जीव लोक में जीवात्मा का स्वरूप धारण करता है। कुछ न कुछ खेल खेलता रहता है, जीवन को बनाता है। आपका सच्चा स्वरूप, यह मर मिटने वाला, हड्डी-मांस का पिंजरा नहीं है। मेरा अंश होने के कारण आपका सच्चा स्वरूप दिव्य है, आप दिव्य आत्म तत्त्व हैं। जब भगवान् ने स्वयं अपनी दिव्य वाणी से इस प्रकार के रहस्य को खोल दिया है तो फिर इसके बाद क्या सन्देह रह जाता है? दूसरा अन्य विचार सुनने की क्या जरूरत है? केवल मात्र हम भगवान् के ही अंश हैं।

अभी अभी पूर्व वक्ता ने अपनी वार्ता में बताया- राम बड़ा है या राम का नाम बड़ा है। राम नाम आत्मोन्नति का साधन है, राम से मिला देने में पर्याप्त है, उद्धार करने में समर्थ है। राम ने तो एक अहिल्या बनी शिला को ही तारा है, किन्तु उनके नाम ने असंख्य शिलाओं, पहाड़ के पत्थरों को तार दिया है। चैतन्य महाप्रभु बंगाल के विशिष्ट भक्त रहे हैं, सभी प्रान्तों में कुछ भक्त आते ही रहे हैं। महाराष्ट्र, कर्नाटक और तमिलनाडु में जितने उच्च कोटि के भक्त हुए हैं, उतने अन्य प्रदेशों में आप नहीं देख सकते हैं। एक ही समय में उनका एक सम्प्रदाय बन गया, परम्परा बन गई। कर्नाटक में इसे "दासपीठ" बोलते हैं-सब दास ही दास। पुरन्दर दास, विजय दास, अनंत दास आदि। उन्होंने भगवद् नाम एवं भगवद् प्रेम की साधना की एवं कलिकाल में इसको स्थापित किया। पुरन्दर दास जी ने एक गीत में गाया है कि मैंने आपके दर्शन के लिए अनेकानेक प्रार्थनाएँ की, बहुत रोया किन्तु आपने मुझे दर्शन नहीं दिये। उन्होंने व्यंग्य भाव में कहा- "ठीक है आप दर्शन नहीं देते हो तो मत दो, प्रसन्न नहीं होते हो तो मत हों, मुझको परवाह नहीं है, आपके पीछे क्यों पड़ना है? मेरे पास आपसे भी अधिक बड़ी चीज है, वह है आपका नाम। यह मेरे लिए पर्याप्त है। जब अजामिल को यमदूत में आकर ले जाने लगे तो क्या आपने बचाया ? नहीं, आपके “नारायण” नाम ने ही उनको बचाया।"

ऐसे ही जब सूरदास जी की लाठी पकड़ कर कन्हैया उन्हें ले जा रहे थे। सूरदास जी को लगा कि कोई गाँव का लड़का है। सूरदास जी ने पूछा- "तुम कौन हो ? तुम्हारा क्या नाम है ? तुम्हारे माता-पिता कहाँ रहते हैं?

कौन से गाँव से आये हो।" कन्हैया उनको टालता रहा, सही बात नहीं बताई। तब सूरदास जी को अनुभव हुआ- अरे ! इस लड़के में कुछ विशेष चमत्कार है। यह गाँव का लड़का नहीं है, मेरा साक्षात् कन्हैया ही है। इतना निकट आने पर अब मैं इसे नहीं छोडूगाँ, इस सुनहरे अवसर को मुझे नहीं खोना है। यह तो बड़ा छलिया है, मैं तो अन्धा हूँ। तीन पुट की लकड़ी थी, एक तरफ सूरदासजी ने पकड़ी थी, दूसरी तरफ कन्हैया ने। सूरदास जी ने कन्हैया से बात चालू रखी एवं अपने छोर से हाथ को धीरे-धीरे बढ़ाते-बढ़ाते कन्हैया का हाथ पकड़ लिया, झट से हाथ छूट गया, लकड़ी हाथ में रह गई। कन्हैया दूर खड़े होकर जोर-जोर से हंसने लगे। उस समय सूरदास जी की क्या अवस्था रही होगी, उसको सूरदास जी ही जानते हैं। इतना नज़दीक आकर के भी छूट गया, लाला को नहीं पकड़ पाया। इस स्थिति को भगवान् एवं सूर के अलावा कोई नहीं समझ सकता है। कैसे भी सूरदास जी ने अपने आप को सम्भाल लिया और कहा- "अन्धे के हाथ से छूट कर तुम अपने आप को बड़ा शूर समझते हो, चालाक समझते हो। समझते हो कि तुम जीत गये, मैं हार गया। नहीं-नहीं, मैं अपनी हार तब मानूगाँ जब तुम मेरे हृदय से चले जाओगे। हृदय से तुम नहीं जा सकते, यहाँ पर मेरे वश में हो।

हाथ छुड़ाये जात हो निबल जान के मोहि।
हृदय से जब जाओगे, तब सबल जानिहों तोहि ।।

इसी प्रकार पुरन्दर दास जी कहते हैं नाम के बल से मैं निहाल हो जाऊगाँ एवं आपके पास पहुँच जाऊँगा। भगवान् का नाम लेने से पाष मिटते हैं। रत्नाकार डाकूने मरा-मरा जप करके ब्रह्मज्ञान को प्राप्त कर लिया, कौन नहीं जानता है—'उल्टा नाम जपत जग जाना, वाल्मीकि भये ब्रह्म समाना' भारी पाप करने के बाद भी नाम के प्रताप से हम सब को वाल्मीकि रामायण ग्रन्थं दिया। नाम के अन्दर भगवान् ने स्वयं शक्ति दी है यह उनकी लीला है। आओ, हम और आप सब मिलकर नाम को गायें-

प्रेम मुदित मन से कहो
राम राम राम श्री राम राम राम,
श्री राम राम राम श्री राम राम राम ।
पाप कटे दुःख मिटे, लेत राम नाम,
भव समुद्र-सुखद नाव, एक राम नाम ।।
श्री राम राम परम शान्ति-सुख निधान,
दिव्य राम नाम, निराधार को आधार, एक राम नाम ।। श्री राम राम .....

परम-गोप्य परम-इष्ट-मंत्र राम नाम,
सन्त हृदय सदा बसत, एक राम नाम ।। श्री राम राम
महादेव सतत जपत, दिव्य राम नाम,
काशी मरत मुक्ति करत, कहत राम नाम।। श्री राम
माता-पिता बन्धु सखा सब ही राम नाम
भक्त-जनन जीवन-धन एक राम नाम ।। श्री राम राम

प्रेम और आनन्दपूर्ण मन से बार-बार नाम लेते रहो -

श्री राम जय राम जय जय राम ॐ
श्री राम जय राम जय जय जय राम ।
श्री राम जय राम जय जय राम ॐ
श्री राम जय राम जय जय राम ।

आनन्दमय आत्मस्वरूप ! आप सब आनन्द में हैं कि नहीं- हाँ हैं। यह आनन्द आपको कहाँ से मिला। भोजन से, टी.वी. से, रेडियो से, क्लब से, सिनेमा से-नहीं । आनंद के लिए किसी भौतिक पदार्थ की जरूरत नहीं है। आनन्द सदा सर्वदा परिपूर्ण रूप से आपके स्वरूप में विराजमान है। भगवान् केवल मात्र असीम अगाध आनन्द स्वरूप हैं।

श्रुतियों, अनुभवसिद्ध ज्ञानियों, तत्त्ववेत्ता ब्रह्मसाक्षात्कार किये हुए सिद्ध महापुरुषों की यह घोषणा है— '**आनन्दं ब्रह्मेति विजानात्**' हे मानव ! क्षणिक सुख के लिए, अल्प वस्तुओं के लिए तुम्हारे अन्दर भ्रान्ति है, बड़ा धोखा है, इस कारण भटकते फिर रहे हो। लेकिन अनन्त आनन्द के सागर में डूब रहे हो, उसे आप जानते नहीं हैं। "**जल में मीन प्यासी देख कबीरा आवत हासी**" सारी जिन्दगी जल में रहकर के भी मीन प्यासी है। अखबार में छपवा दो कोई क्या बोलेगा। ठीक यही दशा हमारी है। '**आनन्दं ब्रह्मेति विजानात्**' निराकार, निर्गुण, अनन्त, नित्य, अविनाशी, शाश्वत, अमर परात्पर तत्त्व कहाँ है ? '**सर्व खल्विदं ब्रह्म**' ऐसा सिद्ध महापुरुषों ने अनुभव करके बोला है, जो कुछ भी है सब ब्रह्म से ओत-प्रोत है।

भक्त कहता है कि आनन्दकन्द भगवान् आनन्दस्वरूप है। भगवान् कहाँ हैं? वैकुण्ठ में, गोलोक में, कैलाश में, साकेत में हैं? '**सर्वं विष्णुमयं जगत्**' है। यह पूरा का पूरा अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड विष्णु तत्त्व से, भगवद् तत्त्व से ओतप्रोत है । आनन्दस्वरूप परमात्मा सर्वव्यापी सर्वर्वान्तर्यामी है। उपनिषद्, गीता सबमें इस तत्त्व को पुष्ट किया गया है। अर्जुन को निमित्त बनाकर इस तत्त्व को सिद्ध करने के लिए एक पूरा अध्याय गीता में रख दिया है। भगवान् कहते हैं—जो तुम देखते हो, सुनते हो, स्पर्श करते हो सब कुछ मैं ही हूँ। इस विशाल विश्व को मैं ही धारण किये हुए हूँ।

हमने यह चद्दर ओढ़ा है, बताओ इसमें ऐसा कौन-सा स्थान है जहाँ पर कपास या धागा न हो। कुम्हार के पास घड़ा, सुराही, सकोरा बर्तन आदि मिट्टी के सिवाय कुछ भी नहीं है। सुनार के पास चूड़ी, हार, नथ कर्णपुल है, उसमें भी सोने के अलावा कुछ भी नहीं है। भगवान् के साथ विश्व का सम्बन्ध भी ऐसा ही है, आप अनुमान लगा सकते हैं।

आनन्द कहाँ नहीं है? कहाँ खोजने जायें ? नारायण तत्त्व, ईश्वर तत्त्व, ब्रह्म तत्त्व, सच्चिदानन्द तत्त्व, अन्दर बाहर सबमें समाया हुआ है, सबमें ओतप्रोत है जहाँ तुम हो 'वह' भी वहाँ है। उसके लिए किसी को छोड़कर, इधर उधर जाने का प्रश्न ही नहीं है। इसलिए नारायणसूक्त में भी कहते हैं-

यच्चकिञ्चिज्जगत् सर्वं दृश्यते श्रूयतेऽपि वा।
अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः।।

शंकर भगवान् सदैव आपके हृदय-कमल में विराजमान हैं-

कर्पूरगौरं करूणावतारं संसारसारं भुजगेन्द्रहारम् ।
सदावसन्तं हृदयारविन्दे भवं भवानी सहितं नमामि ।।

भगवान् स्वयं कहते हैं-हे अर्जुन ! मैं कहाँ हूँ, कैसा हूँ?

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च।।

सम्पूर्ण प्राणियों के आदि, मध्य तथा अन्त में मैं ही हूँ और प्राणिय के अन्तःकरण में आत्मरूप से भी मैं ही स्थित हूँ। एक दिव्य तत्त्व सब प्राणी मात्र में गूढ़ रूप में छिपा हुआ है

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च।।

इस एक श्लोक में ३ बार प्रमाण दिया है

१. एकोदेवः **सर्वभूतेषु गूढः**

२. सर्वव्यापी **सर्वभूतान्तरात्मा**

३. कर्माध्यक्षः **सर्वभूताधिवासः**

इसको प्रतिदिन १० बार, १००० बार मनन करना चाहिए, ध्यान करना चाहिए तभी यह सत्य हमारे मन में उतरेगा। आनन्दस्वरूप तत्त्व हमारे हृदय में बसा हुआ है, फिर भी हम भिखारी की तरह इधर-उधर भटक रहे हैं तो हमसे ज्यादा मूर्ख कौन होगा? मक्खी, कीड़ा, मच्छर मल के ऊपर भी बैठते हैं, गुलाब जामुन के ऊपर भी बैठते हैं । भगवान् ने उनको बुद्धि नहीं दी है, इसलिए वे क्षम्य हैं। भगवान् ने हमें बुद्धि, विचारशक्ति, सोचने-समझने के लिए दे रखी है। हमें मानव बनाया है, घोड़ा, गधा, कुत्ता आदि नहीं।

ईसाई मजहब में कहते हैं-भगवान् ने अपने जैसा ही इन्सान को बनाया है। इतना ऊँचा स्थान देकर हम इस सत्य को नहीं भूलें, इसके लिए वेद, पुराण, उपनिषद्, गीता, भागवत, रामायण, महाभारत, योगवशिष्ठ, ब्रह्म सूत्र आदि ग्रन्थ दिये हैं। ऋषि-मुनियों ने इस सत्य को उजागर करके हमारे अन्दर कूट-कूट कर भर दिया है फिर भी हम इधर-उधर भटक रहे हैं। तभी तो कहा है **"आश्चर्यमेतत् मनुष्य लोके सुधां विसृज्य विषं पिबन्ति"** घोर आश्चर्य है कि संसार में मनुष्य अमृत का त्याग कर विषपान कर रहे हैं। श्रीमद्भागवत में भी कहा है—

"**कांचार्थं रत्नं संत्यक्तम्**" काँच के टुकड़ों के लिए अमूल्य रत्नो को छोड़कर खेल-खेल रहे हो, आश्चर्य है! जागो जी, उठो जी आप माया के पीछे जाकर कब तक ऐसा करते रहोगे। श्री नानक देव जी ने भी कहा है-कौड़ी को तो खूब सम्भाला, लाल रतन क्यों छोड़ दिया। ऐसा नहीं करना चाहिए। हमारे आनन्द को हम ही खोते हैं, कोई भी हमें इससे वंचित नहीं करता है, कोई छीन नहीं रहा है। बार-बार आनन्द हमारे सामने खड़ा होता है, हम इन्कार कर देते हैं। क्या करें, हताश होकर चला जाता है, उसके बाद में हम बैठ कर रोते हैं। यही समय है, मुहूर्त है, मौका है, अपने जीवन को परिपूर्ण, सुन्दर बनाओ। इस मौके को छोड़ दिया तो किसी के ऊपर दोषारोपण मत करना।

बीसवीं शताब्दी के अन्तिम दशक में भगवान् ने आधुनिक जगत् के मानव के ऊपर ज्ञान के भण्डार को बरसा दिया है। इतने ऐश्वर्य, इतने ज्ञान से सम्पन्न होने के बाद भी हम कहते हैं भगवद् प्राप्ति का मार्ग नहीं मिल रहा है। भगवान् ने अपना भण्डार खोल दिया है, कुछ भी छुपा के नहीं रखा है। अब शतशः हमें पूरी जिम्मेदारी से कर्तव्य करना है। इसलिए हमें उपनिषद् कह रहे हैं-

उत्तिष्ठत ! जाग्रत ! प्राप्य वरान्निबोधत ।।

उठो जागो और उस ज्ञान को प्राप्त करके, अपने आपको जान करने निहाल हो जाओ। निर्भय और परमानन्द अवस्था प्राप्त करके अपना जीवन सार्थक कर लें। साधक और भगवद् भक्त बनकर साधना में जुट

जायें। व्यवहार में भी अपनी साधना को शामिल रखें। निष्काम भाव से अभिमानरहित, फलाकांक्षा के बिना अपने कार्यों को भगवान् के चरणों में समर्पित कर दें। आन्तरिक साधना को बनायें रखें जिससे सारे कार्य योगमय हो जायेंगे। इतना कहकर, मैं अपनी वाणी को विराम देता हूँ। भगवत् सानिध्य, गुरु महाराज की कृपा सब सन्तों का आशीर्वाद आप सबके ऊपर बना रहे। हरि ॐ

४

हमारे तीन ऐश्वर्य

(राधा बाजार ओडिशा १२.२.९० को दिया गया प्रवचन)

उज्ज्वल दिव्य आत्मस्वरूप, परम पिता परमात्मा की दिव्य अमर संतान !

हम भारतीय हैं, भारतीय संस्कृति नामक ऐश्वर्य प्राप्त एक विशेष जनसमुदाय है। यह उज्ज्वल संस्कृति हमको अपने पूर्वजों से प्राप्त हुई है। पहला ज्ञान का ऐश्वर्य है। दूसरा आदर्श जीवन का ऐश्वर्य है एवं तृतीय ऐश्वर्य में

तीन तत्त्वों का समावेश है-सत्यपरायणता, अहिंसात्मक जीवर एवं परिशुद्ध आचरण के द्वारा व्यवहार क्षेत्र में कार्य करना। हमारे ऋषि-मुनि, ज्ञानी, तत्त्ववेत्ता महापुरुषों ने ज्ञान एवं अनुभव के आधार पा यह घोषणा की है- '**एकम् सद्विप्रा बहुधा वदन्ति**' अनादि अनन्त काल से विराजमान अविनाशी शाश्वत तत्त्व एक ही है। यद्यपि हम उन्हें अनेक नामों से पुकारते हैं, फिर भी अनेक नाम धारण करते हुए भी सत्य एक ही है।

भारत ही नहीं, विश्व भ्रमण करने पर भी आपको एक विचित्र बार मिलेगी कि एक ही वस्तु के अनेक नाम हैं। प्यास को मिटाने के लिए पान चाहिए, विश्व के समस्त प्राणी मात्र की प्यास पानी से ही मिटेगी। फ्रान्स जर्मनी में जाकर कहोगे कि हमें प्यास लग रही है पानी पिलाओ तो वे लो समझेंगे ही नहीं, उनकी भाषा में पानी मांगोगे तभी वे आपको पानी द विदेश की बात तो रहने दो तमिलनाडु में चले जाओ, वहाँ भी पानी कहेंगे, तो वह नहीं समझेंगे। उनसे तनी चाहिए कहेंगे, तब आपको पानी देंगे। पानी के हजारों नाम हैं किन्तु पानी हजार रूप में नहीं बदलता। हवा, आकाश, मिट्टी के भी अनेक नाम हैं किन्तु तत्त्व की दृष्टि से एक ही हैं। दूध, चीनी, आटा सब जगह एक सा ही है किन्तु भाषान्तर के कारण नाम अलग हो जाते हैं।

सभी धर्मों एवं मजहबों के अपनी-अपनी भाषाओं में धर्म ग्रन्थ हैं। अरबी, लैटिन, यहूदी, पारसी सभी भाषाओं में एक ही तत्त्व के विषय में बोलते हैं। इस अनुभूति को हजारों वर्ष पहले हमारे पूर्वजों ने पाया एवं सुन्दर रूप में कहा- 'एकमेवाद्वितीयम् ब्रह्म', 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति'। सब प्राणी मात्र का सृजन करने वाली एक शक्ति नाम रूप से परे परात्पर तत्त्व परमात्मा है। हम सब एक ही वैश्वात्मक कुटुम्ब हैं, हर इन्सान दूसरे इन्सान का भ्राता है। सत्य सनातन वैदिक धर्म का यह केन्द्रीय सत्य और विश्वास है। इसलिए कहा है- 'उदारचरितानां तु वसुधैवकुटुम्बकम्' इन सब बातों को अपने हृदय में रखकर मानवता के साथ व्यवहार करना चाहिए। यह अशान्ति के बीच शान्ति का, द्वेष और घृणा के बीच प्रेम और भ्रातृत्व का, संघर्ष के बीच सामंजस्य का रास्ता है। तत्त्व एक है, किन्तु नाम अनेक हैं, लक्ष्य एक है, वहाँ पहुँचने के लिए रास्ते अनेक हैं। हिन्दू, मुस्लिम, पारसी, यहूदी, बौद्ध, जैन, सिख सभी एक पर्वत के शिखर पर जाने के लिए विविध रास्ते बताते हैं। वह मंजिल क्या है? वह मंजिल आपका असली वतन, आपका निज धाम है। हम जहाँ से आये हैं वहीं जाकर हम सबको पहुँचना है, वही हमारा अंतिम लक्ष्य है, हम सब एक ही भूमिका से आये हैं।

जब सृष्टि की रचना नहीं हुई थी, चन्द्रमा, सूर्य, तारा मण्डल कुछ भी नहीं थे। न इन्सान रहा, न हैवान रहा और न ही कोई जीव-जन्तु रहे। न देवदूत थे न ही मसीहा, न धर्म था, न ही धर्म ग्रन्थ थे। उस वक्त क्या था? उसका क्या नाम था ? उसके बारे में बोलने वाला कौन था ? केवल मात्र एक महान् प्रशान्त अवस्था, परम शान्तिस्वरूप, परम आनन्दस्वरूप, परम ज्ञानस्वरूप एवं प्रचंड प्रकाशमय अवस्था। इसी शान्ति, आनन्द, प्रकाश को हम भगवान् कहते हैं। अपनी अपनी भाषा में कोई एकओंकार सतनाम, गॉड, अल्लाह, मसीहा, निर्वाण, जिहोवा आदि कहते हैं। उसका सबसे उचित नाम, उचित परिभाषा है-अनिर्वचनीय, अवर्णनीय। लेकिन जिन्होंने इनका अनुभव किया है उन्होंने इसे परमानन्द, परम शान्तिस्वरूप, परमज्ञानस्वरूप पाया है। यही आपका उत्पत्ति स्थान है और वहीं जाकर पहुँचना है।

वह केवल मात्र आपका आदि उत्पत्ति स्थान मात्र नहीं है, अन्तिम लक्ष्य मात्र नहीं है बल्कि अव्यक्त, सूक्ष्मातिसूक्ष्म आन्तरिक आधार है। 'वह' है, इसलिए आप भी हैं, यदि 'वह' नहीं तो आपका रहना भी सम्भव नहीं है। इसलिए वह आपका आदि, मध्य, और अन्त है, यह सोचो और विचार करो। वर्तमान में आपके अन्दर सूक्ष्म आधार के रूप में परम शान्ति, दिव्यानन्द, ज्ञान का प्रकाश भरा हुआ है। फिर आप इधर-उधर क्यों भटक रहे हो ? उसको अन्दर खोज करके प्राप्त करना है। इस आन्तरिक खोज को ही साधना, भजन, अभ्यास और योग कहते हैं। सभी धर्मों की आन्तरिक खोज का यह सूक्ष्म मार्मिक स्वरूप है।

धर्म के बाह्य स्वरूप में भिन्नता है। देश विदेश में अलग-अलग धर्म हैं और उनके उत्पत्ति स्थान भी अलग-अलग हैं। प्रदेश के वातावरण, पर्यावरण में जो वस्तु उपलब्ध होती है, उसी को पूजा की सामग्री बना लेते हैं। रेगिस्तान में जलाभाव के कारण यह नियम नहीं बनाया है कि तुम्हें स्नान करके ही पूजा प्रार्थना करनी है। जहाँ पर गंगा, यमुना नदी बह रही है, वहाँ का नियम है कि बिना स्नान किये पूजा अर्चना नहीं करनी है। सभी धर्मों के बाह्य स्वरूपों में भिन्नता अनिवार्य है, यह सहज स्वतः सिद्ध है, इसको कोई भी देख समझ सकता है।

परन्तु सभी धर्म, मजहब मानव एवं भगवान् के आध्यात्मिक सूक्ष्म सम्बन्ध के बारे में एक ही बात कहते हैं। प्रत्येक जीवात्मा उसी से आया है, उसी में रहता है और अन्त में उसी में जाकर मिलता है। यहाँ पर केवल दो दिन के मुसाफिर हैं। पथिक बनकर आये हैं, एक ही मंजिल पर पहुँचना है तो रास्ते में झगड़ा क्यों करना है? एक दूसरे से मिल जुलकर रहने तथा परस्पर सहयोग करने से यात्रा सुगम हो जाती है। जहाँ पहुँचना है, आसानी से पहुँच जाते हैं। बीच में झगड़ा किया तो यात्रा समाप्त हो जायेगी । अपने निज धाम तक नहीं पहुँच पायेंगे, यह आत्म वंचना है। हम कदापि शान्ति, आनन्द और जीवन की सफलता प्राप्त नहीं कर पायेंगे। सुन्दर से सुन्दर, मीठे से मीठे, अद्भुत से अद्भुत अनुभव को छोड़कर, मुँह कड़वा करके हमेशा के लिए दुःख अशान्ति में रहकर रोते ही रहेंगे। प्राचीन युग से प्राप्त ज्ञान मानव के आध्यात्मिक एकता के अनुभव को बताता है। शारीरिक दृष्टि से अलग हैं किन्तु आध्यात्मिक तत्त्व सबमें एक ही है। जीव विज्ञान भी बताता है कि सबमें खून एक ही तरीके का होता है। इसी प्रकार हमारे आध्यात्मिक वैज्ञानिक महर्षि सिद्ध महापुरुषों ने अनुभव करके तात्त्विक, आध्यात्मिक एकता को बताया है।

इसलिए भारतवर्ष की संस्कृति में एकता के आधार पर आदर्श जीवन को द्वितीय ऐश्वर्य बताया है। सब इन्सान सबके सुख के लिए अपने जीवन को बनाएं। तुम अपने वास्ते दुःख नहीं चाहते हो तो दूसरों को दुःख मत दो। तुम अपने लिए सुख आराम चाहते हो तो अपने कर्म एवं व्यवहार से दूसरों को सुख आराम देने की चेष्टा करो, ऐसा मनु ने कहा है—'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्' जो हमारे लिए अनुचित है, अच्छा नहीं है वैसा दूसरों के लिए कभी नहीं करना चाहिए। व्यास भगवान् कहते हैं कि केवल दो बातों को बताने के लिए मैंने अठारह पुराण लिखे हैं । वे क्या है :-

अष्टादशपुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम् ।
परोपकाराय पुण्याय पापाय परपीड़नम् ।।

परोपकार करना पुण्य है और किसी को पीड़ा पहुँचाना, दूसरों का अहित करना पाप है। सबके अन्दर वैसा ही भगवान् बैठा है जैसे तुम्हारे अन्दर बैठा है।

तृतीय ऐश्वर्य में हमारे व्यवहार और आचरण के लिए तीन तत्त्व बताये हैं—सत्य, अहिंसा, पवित्रता । झूठ कपट करके आपको कोई धोखा दे, ऐसा आप नहीं चाहते हैं। इसलिए आपको अपने व्यवहार में सदैव सत्य का ही आचरण करना चाहिए। अपने साथ हानि, हिंसात्मक व्यवहार नहीं चाहते हैं, अपनी रक्षा चाहते हैं तो दूसरों के साथ हिंसा करने का हमें कोई अधिकार नहीं है। असभ्य, अपवित्र व्यवहार अपने और अपने परिवार के लिए कोई नहीं चाहता है, सभी असभ्य एवं अपवित्र व्यवहार को बुरा मानते हैं। इसलिए हमारे जीवन में काया, वाचा, मनसा पवित्रता को अपनाकर के सबके साथ पवित्र आचरण एवं व्यवहार किया जाना चाहिए। इस प्रकार हमारे व्यवहार में सदैव सत्यपरायणता, अहिंसात्मकता एवं काया, वाचा, मनसा पवित्र आचरण होना चाहिए।

हम भारतवासियों का परम सौभाग्य एवं गौरव है कि हमने अपने पूर्वजों से ऋषि-मुनि, ज्ञानी, तत्त्ववेत्ता महापुरुषों से अमूल्य अतुल्य ज्ञान के ऐश्वर्य को प्राप्त किया है। ये पूरा का पूरा ऐश्वर्य आपके अन्दर है, क्योंकि आप परमपिता परमात्मा से भिन्न नहीं हैं, उनके ही दिव्य अंश हैं। आपके अन्दर अनन्त पवित्रता, अनन्त सत्यता, अनन्त

दया और प्रेम निहित है। इसके विकास के लिए आपको प्रयत्न करना है, यही परम साधना है, सच्चा जीवन है। आप दिव्य आत्मस्वरूप हैं इसलिए आपका जीवन भी अत्यन्त दिव्य होना चाहिए। अपनी तरफ से मैंने कुछ नहीं दिया है जो आपका है— आपको दिया है। क्योंकि इस ज्ञान भण्डार के ऊपर आपका जन्म सिद्ध अधिकार है, इसको अपना कर धन्य बन जाइये। इन तीन ऐश्वर्यों से आपका जीवन सम्पन्न हो, परम पिता परमात्मा के चरणों में हमारी यही प्रार्थना है। हरि ॐ तत् सत् ।

५

हर क्षण आप भगवान् के सान्निध्य में हैं

(सांगली (महाराष्ट्र) में २४. ११. ८४ को दिया गया प्रवचन)

उज्ज्वल आत्मस्वरूप, परमपिता परमात्मा की दिव्य अमर सन्तान!

कभी-कभी मानव के समक्ष ऐसी परिस्थितियाँ उपस्थित हो जाती हैं। जिनसे वह असन्तुष्ट, अतृप्त रहता है। इसी आन्तरिक भाव के कारण इन परिस्थितियों के लिए वह दूसरों के ऊपर दोषारोपण करता है, अपने भाग्य को कोसता है। क्या भगवान् हमें भूल गये हैं? इस प्रकार भगवान् से शिकायत करता है। किन्तु यदि नकारात्मक भाव की तरफ दृष्टि नहीं रखते हुए, उन्हीं परिस्थितियों में भगवान् ने हमें कितना दे दिया है, उनके आशीर्वाद, उनकी कृपा की तरफ सकारात्मक दृष्टि रखकर तुलना करें तो हमें बहुत कुछ चीजें मिल जायेंगी। खास कर भारतीय सन्तान होने के कारण आपके जीवन में अतुल्य सम्पत्ति, ऐश्वर्य देखने में आयेगा। असन्तोष, अतृप्ति नहीं रहेगी, बल्कि भगवान् को धन्यवाद देते हुए आभार प्रकट करेंगे, 'हे प्रभो! तेरे लिए अनन्त धन्यवाद ! मेरे जैसे व्यक्ति के लिए कितना कुछ दे दिया है, इस ऋण को किस प्रकार से अदा करूँ?' इस प्रकार से सकारात्मक भावना हृदय में आ जायेगी।

प्रपंच में जब जीवात्मा शरीर धारण करके मानव बनकर आता है, तब दुःख, कष्ट, तापत्रय अनिवार्य हैं क्योंकि प्रपंच का स्वरूप ही ऐसा है, स्वभाव ही ऐसा है। यह प्रपंच दुःखमय, अपूर्ण, देश काल में सीमित है। यहाँ कोई भी वस्तु अनादि अनन्त नहीं है, मिश्रित जगत् है, सबकी उत्पत्ति और विलय है। संसार का स्वरूप ही द्वन्द्वात्मक है। दिन है तो रात भी है, ठंड है तो गर्मी भी है, आरोग्य के साथ रोग भी है, युवावस्था के साथ वृद्धावस्था भी है, इसी प्रकार सम्पत्ति-विपत्ति, लाभ-हानि, जय-पराजय, संयोग-वियोग, जन्म-मृत्यु 'जातस्यहिध्रुवोमृत्युः' अर्थात् विपरीत तत्त्व प्रत्येक के साथ जुड़ा रहता है, इसको द्वन्द्व कहते हैं। द्वन्द्वों से बने इस जगत् में मिश्रित अनुभव अनिवार्य हैं। इस जगत्-प्रपंच को आप नहीं बदल सकते हैं। आपके आने से पहले भी यह था । तुम प्रश्न नहीं कर सकते हो कि तुम ऐसे क्यों हो? प्रपंच कहेगा, 'तुम पूछने वाले कौन हो ? जब तुम नहीं थे, तब भी मैं था, तुम चले जाओगे तब भी मैं रहूँगा। तुम सब पथिक के रूप में आते-जाते रहते हो, मैं जैसा हूँ उसे स्वीकार कर लो, अन्यथा तुम जा सकते हो,' प्रपंच ऐसा ही कहेगा क्योंकि तुम्हारे रहने न रहने से उसे कोई अन्तर नहीं पड़ेगा।

लेकिन हाँ, आप अपने आपको, अपने दृष्टिकोण को बदल सकते हैं। दुःख-शोक और संकट में भी आपको बहुत सारी सकारात्मक चीजे मिल जायेंगी। हर चीज का कुछ न कुछ उपयोग है। हमें अपने जीवन के महत्त्वपूर्ण लक्ष्य को पहचान करके आत्म विकास के कार्य में लग जाना चाहिए, जिससे प्रपंच का अस्तित्व एवं परिस्थितियाँ गौण बन जायें और उनका वैसा प्रभाव हमारे ऊपर नहीं रहे जैसा पूर्व में था।

हमारा भारतीय वैदिक साहित्य बहुत समृद्ध एवं वैभवशाली है। इतिहास में किसी अमुक समय में मानव का जन्म लेकर किसी एक व्यक्ति के उपदेश के आधार पर बना हुआ हमारा यह धर्म नहीं है। इतिहास से पूर्व आयी हुई हमारी जीवन प्रणाली का भी समय निर्धारित नहीं कर सकते हैं। जबकि अन्य राष्ट्रों के जनसमुदायों में उनके पूर्व इतिहास की पृष्ठभूमि में हम ऐसा नहीं पाते हैं। मोहम्मद पैगम्बर के पूर्व इस्लाम धर्म नहीं था, बुद्ध भगवान् के पूर्व बौद्ध धर्म नहीं था, जरथुस्त्र के पूर्व पारसी धर्म नहीं था, ईसा मसीह के पूर्व ईसाई मत नहीं था और

मोजेज़ के पूर्व यहूदी धर्म नहीं था। यहूदियों की जीवन प्रणाली भोगवादी थी धर्म-अधर्म, ठीक-गलत का उनके अन्दर विचार नहीं था, उनमें नैतिकता नहीं थी। इन बातों से दुःखी होकर मोजेज़ ने युवावस्था में ब्रह्माण्ड के अधिपति आहुरमज़दा की उपासना की। उन्हें भगवान् का आदेश प्राप्त हुआ, 'जाओ! इन भोगवादियों को मेरा आदेश सुनाओ' और उन्होंने दस सूत्र दिये। उस समय यहूदी धर्म की उत्पत्ति हुई। जैन धर्म को महावीर से मानते हैं, किन्तु इससे पहले ऋषभदेव, जिन्हें आदिनाथ कहते थे इत्यादि २३ तीर्थंकर हो चुके थे। महावीर जी बुद्ध भगवान् के समकालीन महापुरुष थे। हम देखते हैं कि जितने भी धर्म हैं-उनके पीछे कोई विशेष व्यक्ति है, लेकिन भारतवर्ष के सत्य सनातन वैदिक धर्म का मूल आधार कोई व्यक्ति नहीं है, यह अनादि काल से है।

वैदिक धर्म में प्राचीन काल के उत्कृष्ट ब्रह्मज्ञानी, तत्त्ववेता महापुरुषों की अपरोक्ष अनुभूति के आधार पर उस 'परात्पर तत्त्व' का विस्तृत ज्ञान दिया गया है, यह अनुभव सिद्ध ज्ञान है। यह तत्त्व वाणी, विचार एवं बुद्धि से परे है, अदृश्य, अत्यन्त सूक्ष्मातिसूक्ष्म है। साक्षात्कार करके उस तत्त्व के विषय में महापुरुषों ने मानव भाषा में जो ज्ञान प्रदान किया है, उसे वेद कहते हैं। वेद कब रचे गये और कौन उनका रचयिता था-हम जानते नहीं हैं। इस ब्रह्मविद्या का प्रतिपादन वेद के जिस अति उच्च शिरोभाग में है, उसी को हम उपनिषद् कहते हैं। वेद का ज्ञान, वैदिक धर्म का आधार है। प्रपंच और पारमार्थिक-जगत् सम्बन्धी ज्ञान तथा उनके निर्माता के विषय में ज्ञान, इन दोनों से संयुक्त हमारा वैदिक धर्म है। हम वैदिक संस्कृति की सन्तान हैं, हम ऋषियों के बालक है। अपनी कुल परम्परा का परिचय देते हुए हम कहते हैं कि शांडिल्य गोत्र, भरद्वाज गोत्र, कश्यप गोत्र अर्थात् किसी प्राचीन ऋषि से अपना सम्बन्ध बताते हैं; उसी का अनुसरण करते हैं।

जैसा कि हमने पहले कहा कि कभी-कभी मानव के समक्ष ऐसी परिस्थितियाँ उपस्थित हो जाती हैं जिनसे वह असन्तुष्ट, अतृप्त रहता है। क्या इस द्वन्द्व से बने अपूर्ण संसार में, अतृप्तिकर परिस्थितियों की समाप्ति हो सकती है? दुःख, शोक, चिन्ता, संकट इत्यादि के कष्टदायक जो अनुभव हैं, क्या उनसे हम मुक्त होकर शोकरहित आनन्दमय अवस्था को प्राप्त कर सकते हैं? क्या कोई ऐसी अनुभूति है जहाँ केवल शान्ति और आनन्द है । ये प्रश्न हमारे सामने आते हैं। सनातन धर्म स्पष्ट शब्दों में घोषित करता है, 'हाँ, बिल्कुल है । सत्यमेव है। एक ऐसा अनुभव है जिसमें सर्व दुःखों की निवृत्ति साध्य है। सदा के लिए शोक, चिन्ता समाप्त हो जाते हैं, नामो-निशान नहीं रहता है।' वैसे तो ऐसी सर्व दुःख निवृत्ति अवस्था का आप रोज निद्रा में अनुभव करते हैं । दो-चार -छः घंटे के लिए जब हम सुषुप्ति अवस्था में पहुँच जाते हैं, उस समय कोई भी तकलीफ नहीं है। मरीज रोग को भूल जाता है, भूखा, भूखे पेट सोया तो भूख को भूल जाता है, भयग्रस्त आदमी भय को भूल जाता है, सबकी समस्याएँ ना के बराबर हो जाती हैं। परन्तु यह अनुभव तात्कालिक है, जाग्रति में आने पर समस्याएँ जैसी की तैसी रह जाती हैं, निद्रा में केवल उनकी अनुपस्थिति का भान होता है। इस अवस्था में दूसरा दोष यह है कि यह नकारात्मक अवस्था है । आत्यन्तिक सुख एवं अवर्णनीय आनन्द का अनुभव यहाँ नहीं होता है, यह सकारात्मक अनुभूति नहीं है।

परन्तु उस महान् अपरोक्ष अनुभूति अवस्था में सर्व दुःख निवृत्ति मात्र नहीं है, परमानन्द की प्राप्ति भी है। व्यक्ति सदा के लिए तृप्त हो जाता है, कोई इच्छा-चाहना नहीं रहती, आप्त-काम हो जाता है। उपनिषद् स्पष्ट शब्दों में घोषित करता है, 'हे मानव ! उठो, प्रपंच में आकर तापत्रयग्रस्त होकर रहना तुम्हारे लिए अनिवार्य नहीं है। इसकी समाप्ति हो सकती है। ऐसी अद्भुत अनुभूति पर तुम्हारा जन्म सिद्ध अधिकार है, यही जीवन का परम लक्ष्य है, इसको प्राप्त करने की क्षमता तुम्हारे अन्दर निहित है। हे मानव ! तुम दिव्य अजर अमर आत्मस्वरूप हो! महान् अनुभूति, ब्रह्मज्ञान, कैवल्य मोक्ष साम्राज्य का आनन्दमय अनुभव प्राप्त करने के लिए भगवान् ने मनुष्यत्व का अमूल्य उपहार दिया है, विचार शक्ति दी है।'

यह शरीर यातनापूर्ण है, व्याधि मन्दिर है। किन्तु दूसरे दृष्टिकोण से मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् श्री राम अपने मुखारविन्द से दिव्य वाणी में कहते हैं कि यह शरीर 'साधन-धाम और मोक्ष का द्वार' है। आप सत्संग में बैठकर हमको सुन रहे हैं, यह आपका हीरे मोती जैसा अमूल्य ऐश्वर्य है। मनुष्यत्व का महान् लक्ष्य 'दिव्य ज्ञान,

आत्म ज्ञान' की प्राप्ति के लिए प्रयोग करना चाहिए। मैं कौन हूँ? कहाँ से आया हूँ? यहाँ पर मैं क्यों हूँ? इसका विचार करना चाहिए। जो मनुष्यत्व को प्राप्त करके विचार शक्ति का ठीक प्रकार से प्रयोग नहीं करता है, परम ज्ञान, ब्रह्म ज्ञान, आत्मज्ञान की क्षमता को रखते हुए भी बुद्धि का प्रयोग नहीं करता है वह अज्ञान में, अविद्या में, अन्धकार में ही अपना जीवन बिताता है, ऐसा व्यक्ति आकृति में तो मानव है, लेकिन वास्तव में वह पशु ही है। पशुओं का ज्ञानशून्य जीवन है तथा मनुष्य और पशुओं में अन्तर दिखाने वाला तत्त्व ज्ञान ही है। यदि सच्चा मानव बनना है तो विचारशील और विवेकी बन कर, सम्यक् बुद्धि का पदे-पदे प्रयोग करते हुए अपनी जीवन धारा को दिव्य ज्ञान की ओर बहाना चाहिए। अपनी भारतीय धर्म-संस्कृति की यह विशेषता है कि ज्ञान से उसकी उत्पत्ति होती है और ब्रह्मज्ञान में ही उसकी समाप्ति होती है। मध्य में भी ज्ञान के आधार पर जीवन को बनाना है । अतः शुरू में भी, बीच में भी, और अन्त में भी ज्ञान। ज्ञान से ही ओत-प्रोत देश की संस्कृति एवं जीवन प्रणाली है। ऋषियों ने प्राप्त ज्ञान के ऐश्वर्य को वैसा का वैसा बनाये रखा। अपने साथ लेकर नहीं गये, गूढ़ और गुप्त भी बना कर नहीं रखा। वेद नाम से अंकित ज्ञान सबके लिए है। इसमें एक पूर्वार्द्ध है, एक उत्तरार्द्ध है। पूर्वार्द्ध प्रपंच के विषय में बताता है, कर्मकाण्ड का निरूपण करता है। अन्तिम भाग में ज्ञानकाण्ड का निरूपण है। इसमें आपके सच्चे दिव्य आत्म स्वरूप, अमर तत्त्व के बारे में बताया है। ब्रह्म तत्त्व की प्राप्ति कैसे हो-इसका मार्ग दर्शन दिया है। ब्रह्म विद्या ही सर्वत्र समत्व का दर्शन कराती है, इससे अज्ञान की ग्रन्थियाँ कटती हैं तथा चित्त अन्तर्मुखी होता है। ब्रह्म विद्या से ही मिथ्या अनुभूति का विनाश और परम सत्य की उपलब्धि होती है।

मुख्य एक सौ बारह उपनिषद् प्रसिद्ध हैं, लेकिन आचार्यों ने अधिकतर दस-बारह उपनिषदों पर भाष्य लिखें हैं। इस ज्ञान का अध्ययन करके, विचार करके, ज्ञान में बताये हुए अभ्यासों को अपनाकर, अपने जीवन में प्रयोग करके हम धन्य बन जायेंगे। अपरोक्ष अनुभूति, मोक्ष पदवी मरणोत्तर अवस्था में प्राप्त करने की पदवी नहीं है, बल्कि अभी, इसी जन्म में और इसी समय में जीवन्मुक्ति का अनुभव प्राप्त करना चाहिए।

भारतवर्ष का सामाजिक इतिहास, राजनैतिक इतिहास, आर्थिक इतिहास आदि बाह्य इतिहास हैं। लेकिन हमारा सच्चा, वास्तविक इतिहास, आध्यात्मिक इतिहास है। इसका हम जितना गहरा निरीक्षण करेंगे, एक अद्‌भुत बात को हम पायेंगे। भारतवर्ष के कोने-कोने में पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण, मध्य प्रदेश प्रत्येक राष्ट्रीय क्षेत्र की हर पीढ़ी में सिद्ध एवं जीवन्मुक्त पुरुष हुए हैं। इसीलिए भारतवर्ष को पवित्र और पुनीत देश ही नहीं कहते हैं, देवता भी कहते हैं। महर्षि अरविन्द घोष ने भारतवर्ष को साक्षात् भगवदीय परा शक्ति के ही स्वरूप में पाया व अनुभव किया। महर्षि रविन्द्रनाथ ठाकुर, बंकिम चन्द्र चटर्जी, विवेकानन्द जी, स्वामी रामतीर्थ जी आदि अन्य महापुरुषों ने भारत को एक राष्ट्र के रूप में ही नहीं देखा, बल्कि महान् शक्ति के रूप में देखा। दक्षिण भारत के तमिलनाडु में 'भारती' नामक एक महान् अद्‌भुत कवि हुए हैं। भारत परा शक्ति का प्रकट स्वरूप है, देवी, देवता समझकर तमिल, द्रविड़ भाषा में उन्होंने बहुत सारी कविताएँ रची है। भारतीय समाज एवं इतिहास ने अटूट परम्परा, अखण्ड धारा के रूप में सजीव सक्रिय आध्यात्मिकता को बनाये रखा। अपरोक्ष अनुभूति की दिव्य ज्योति को वैसा का वैसा उज्ज्वल बनाये रखा। ऐसे सौभाग्यशाली दिव्य समाज के हम सदस्य हैं, प्रजा हैं। जीवन्मुक्त अवस्था को प्राप्त करना प्रत्येक मानव के लिए जन्म सिद्ध अधिकार है। लेकिन विशेषकर भारतीयों के लिए वेदान्त दर्शन स्पष्ट रूप से कहता है आप जिस अवस्था में अपने आप को पा रहे हैं, यह आपकी वास्तविक अवस्था नहीं है, वैषम्य अवस्था है।

शान्ति और आनन्द आपकी सहजावस्था है। वेदान्त दर्शन अनुभव के आधार पर घोषित करता है, 'हे अमृतस्य पुत्राः ! आपके लिए इस प्रपंच में आकर के दुःखमय जीवन व्यतीत करना अनिवार्य नहीं है, अनावश्यक है। आप चाहें तो उचित पुरुषार्थ करके अभी इसी समय मुक्त हो सकते हैं। हमने रास्ता बताया है अभ्यास करो।' ऐसी चेतावनी देकर जाग्रत किया है-

उत्तिष्ठत् ! जाग्रत ! प्राप्यवरान्निबोधत ।

अर्थात् बोध को प्राप्त करो जैसा तुम्हारे पूर्वजों ने प्राप्त किया है। आजकल का आधुनिक विज्ञान, जगत् के स्थूल विषयों एवं स्थूल शक्तियों को अपने वश में करके उनसे काम लेने-जैसे पानी से कैसे काम लेना, हवा से कैसे काम लेना, बिजली से कैसे काम लेना-का सूक्ष्म विज्ञान, तकनीकी विज्ञान बताता है। इसी प्रकार अदृश्य आत्मतत्त्व को पहचानने की विद्या, इस महान् अनुभूति, दिव्य आनन्द, परम शान्ति, सदा के लिए तापत्रय से मुक्ति, अमर पदवी को प्राप्त करके सदा के लिए निर्भय और आजाद अवस्था की प्राप्ति के लिए ऋषियों द्वारा हमें क्रियात्मक मार्ग दर्शन दिया गया, शास्त्र एवं विज्ञान दिया गया। आन्तरिक जगत् के सूक्ष्म क्षेत्र के इस विज्ञान को हम 'साइंस ऑफ दी सेल्फ' आत्मविद्या शास्त्र और विज्ञान कहते हैं।

दूसरा अमूल्य ऐश्वर्य एवं सम्पत्ति, 'योग शास्त्र' हैं। उन्होंने योग शास्त्रों को रचा और क्रमबद्ध रीति से उस परम तत्त्व की प्राप्ति के लिए क्या-क्या साधना करनी चाहिए, उसको स्पष्ट रूप से हमारे सामने रखा। चार प्रकार के योग मार्ग को बताया है। पहला मार्ग है-उस परात्पर तत्व का ज्ञान प्राप्त करना । इससे यहीं पर इसी धरती पर रहकर मानव अमर बन जाता है। मृत्यु का भय सदा के लिए मिट जाता है। उस महान् तत्त्व के ऊपर सदा विचार करना चाहिए। वह महान् तत्त्व क्या है? उसका स्वरूप क्या है? उसकी प्राप्ति के लिए क्या सामग्री है ? इत्यादि बातों का वर्णन करते हुए एक महान् तत्त्ववेता ऋषि जिसको हम दिव्य अंशावतार कृष्णद्वैपायन कहते हैं, ने ब्रह्म सूत्र में विचार मार्ग अर्थात् ज्ञान योग का निरूपण किया गया है।

वास्तव में, पुरातन काल से आये हुए इस ज्ञान को अपना करके, मनन करके, अपने जीवन में उतार करके, अभ्यास करके हर एक पीढ़ी के ज्ञानी गुरुओं ने शिष्यों को प्रदान किया और इस प्रकार पीढ़ी दर पीढ़ी परम्परा में मौखिक रूप से इस ज्ञान को अटूट, अक्षुण्ण बनाए रखा। यह ज्ञान लिखित रूप में नहीं था लेकिन जब वेदव्यास भगवान् वादरायण महर्षि ने अपनी ज्ञान दृष्टि से देखा कि अब युग परिवर्तन होने वाला है और एक समय ऐसा आयेगा जब मानव की ध्रुव स्मृति घट जायेगी। मानव दुर्बल, अल्पायु हो जायेगा, मन विक्षिप्त हो जायेगा। उनके अंदर इतनी शक्ति नहीं रह जायेगी कि वह इस मौखिक ज्ञान को ग्रहण करके दूसरी पीढ़ी को दे सके। इसलिए उन्होंने वैदिक ज्ञान को लिखित रूप दे दिया। उन्होंने इस ज्ञान को चार भागों में विभाजित किया। इसी कारण से बादरायण महर्षि को वेदव्यास भी कहते हैं।

किसी श्रेष्ठ वक्ता जब कोई वेद की व्याख्या सुनता है तो कहता है कि इतना स्पष्ट रूप से समझाया है, ब्रह्म क्या है मुझे समझ में आ गया है। ऐसी कल्पना मन में आ जाती है, लेकिन ऐसा नहीं होता है। श्रोता ने गुरु अथवा आचार्य के मुख से जो वार्ता सुनी है, उसका केवल भाषार्थ समझा है। यह समझ लेना मुश्किल बात नहीं है लेकिन सूक्ष्मातिसूक्ष्म को समझना कठिन है। जैसे अंकगणित, बीजगणित को समझने के लिए सूक्ष्म बुद्धि चाहिए। ऐसे ही वेदान्त के विषय में कोई आचार्य हमें बताये तो उनके भाषा के शब्दार्थ को समझ लेना साध्य है लेकिन उसके मार्मिक सूक्ष्म तत्त्वार्थ को जानना सुलभ साध्य नहीं है।

जिस बात को एक बार सुन लिया, उस पर सौ बार मनन करना चाहिए। मनन करते-करते उसके सूक्ष्म मार्मिक आन्तरिक अर्थ, तात्त्विक अर्थ का तुम्हें भान हो जायेगा। एक बार जब अच्छी तरह से ग्रहण कर लिया तो वह तुम्हारी चेतना की गहराई तक पहुँच जायेगा। तब निःशब्द होकर सब बातों को छोड़कर उस पर ध्यान लगाना। श्रवण-मनन-निदिध्यासन अर्थात् दीर्घ ध्यान द्वारा आत्म-विद्या की प्राप्ति-यह ज्ञान योग की साधना है। इस आत्म-विद्या के लिए जिज्ञासु किसी आचार्य के पास पहुँच करके कहता था, मैं आपका शिष्य बनना चाहता हूँ। वेद-वेदान्त में परात्पर तत्त्व का सूक्ष्मातिसूक्ष्म वर्णन किया गया है, उसको मैं आपसे सीखना चाहता हूँ। इस प्रकार ज्ञान योग विज्ञान की एक पद्धति थी। आचार्य जी कहते थे कि इस सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्व को श्रवण करने के लिए अपने आप को योग्य अधिकारी बनाओ। अधिकारी बनने के लिए तुम्हें साधनचतुष्टय सम्पन्न बनना होगा । तुम्हारे अन्दर

विवेक होना चाहिए। नित्य-अनित्य, शाश्वत-अशाश्वत, आत्मा-अनात्मा के बीच भेद की पहचान करना ही विवेक है। जो अनित्य को ही नित्य समझे, दृश्य को ही सत्य समझे तो भला है वह आत्मज्ञान को कैसे प्राप्त करेगा ?

विवेक के द्वारा साधक समझता है, "अरे ! यह दृश्य जगत् केवल क्षणिक है, इसमें कोई सत्ता नहीं है नाशवान है। ऐसा जानने के बाद प्रपंच के बाह्य पदार्थों से उसकी ममता हट जाती है, उनकी कोई मूल्यता नहीं रहती है। मैं केवल नित्य-शाश्वत अमर परिपूर्ण तत्त्व को चाहता हूँ। उसे प्राप्त करके सदा के लिए तृप्त और सन्तुष्ट होना चाहता हूँ। अन्य तत्त्व के लिए मेरे मन में आस्था नहीं है। विवेक के द्वारा उसमें वैराग्य उत्पन्न हो गया है। वैराग्य के साथ-साथ इच्छा-तृष्णा का त्याग करके मन में शान्त वृत्ति बन गई है। बाह्य पदार्थों से हमें सुख मिलेगा, इस भ्रान्ति से छुटकारा हो जाता है। मन अपने वश में हो जाता है, इन्द्रियाँ इसमें बाधा नहीं देती हैं इसको 'दम' कहते हैं। वासनाओं के सतत उन्मूलन के द्वारा मन की शान्ति प्राप्त = होती है जिसे 'शम' कहते हैं। उपरति आत्मा का अन्तर्मुख होना है। इसमें मन विषय भोगों से मुड़ जाता है। तितिक्षु व्यक्ति कष्ट अपमान, सर्दी-गर्मी को सहन करता है, सारी व्यथाओं से मुक्त रहता है। ब्रह्म के अस्तित्व, गुरु, शास्त्र, अपनी आत्मा में अविचल विश्वास ही श्रद्धा है। मन की एकाग्रता ही समाधान है। शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा, समाधान-इस षट्सम्पत्ति को अपनाना चाहिए। चौथा है-मोक्ष के लिए तीव्र आकांक्षा। मैं इस बद्धावस्था में नहीं रहना चाहता हूँ। यह शरीर मेरे लिए कारागार है, बन्दीगृह है। अपने स्वरूप को जानकर सदा के लिए देश काल से परे मुक्त अवस्था में पहुँचना चाहता हूँ। विवेक, वैराग्य, षद्सम्पत्ति, मुमुक्षुत्व साधन चतुष्ट्य सम्पन्न जिज्ञासुओं को ही श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ आचार्य ब्रह्मज्ञान का उपदेश देते हैं। श्रवण मनन निदिध्यासन ही मोक्ष का मार्ग है और आत्म ज्ञान को प्राप्त करने का रास्ता है।

दूसरा मार्ग है-भक्ति का । अधिकांश लोगों की प्रकृति भाव प्रधान है, बुद्धि की कसरत नहीं करना चाहते हैं। उनमें सहज ही प्रेम-स्नेह का भाव रहता है। अनुभूति के ऊपर इनका भी जन्मसिद्ध अधिकार है ये लोग इसे कैसे प्राप्त करें। जिस प्रेमभाव द्वारा तुम प्रपंच के ऊपर आसक्त होकर, मोह माया में फंसकर ममता-आसक्ति में बद्ध हुए हो, उसी भाव की दिशा परिवर्तित करके परात्पर तत्त्व के ऊपर लगा दो। भगवान् की भक्ति एवं भजन से ही मोक्ष की प्राप्ति हो जायेगी। इसके लिए नारद भक्ति सूत्र शांडिल्य भक्ति सूत्र है, इनका अध्ययन करना चाहिए। गूढ़ात्मक आन्तरिक भाव, प्रेम और भक्ति के द्वारा भगवद् प्राप्ति एवं मुक्ति। भक्ति सूत्र अति संक्षिप्त हैं और संस्कृत भाषा में हैं। इनको समझने के लिए व्याख्या की जरूरत पड़ती है या किसी आचार्य के पास जाकर पढ़ना पड़ता है। यह साधारण जनता के लिए दुर्लभता से प्राप्य है। हमारे आध्यात्मिक इतिहास में पीढ़ी दर पीढ़ी कई सन्त महापुरुष महात्मा आये हैं जो भक्ति मार्ग के रहस्यों को अपनी प्रान्तीय भाषा में अभंग के द्वारा, भजनों के द्वारा, कविता द्वारा देकर गये हैं तथा जिन्होंने अपनी सरल रचनाओं द्वारा भक्ति मार्ग पर प्रकाश डाला है। भक्ति मार्ग का बहुत बड़ा पुनरोत्थान सन्तों भक्तों के द्वारा हुआ है।

अठारह पुराणों में भागवत महापुराण ने भक्ति मार्ग के लिए विशेष रूप से आशीर्वादित किया है। नवधा भक्ति का वर्णन किया गया है। भगवान् की महिमा, गुणगान, लीला का श्रवण करते हैं। जिस किसी व्यक्ति का गुणगान यश सुनते हैं तो उनके प्रति हमारा स्नेह, आदर-सत्कार का भाव आता है, आकर्षण बढ़ता है। अभी तक लीला कथा का श्रवण किया है, अब कीर्तन करो, स्मरण करते जाओ। उनको अपने सामने साकार सगुणस्वरूप में कल्पित करके मूर्ति के द्वारा चित्र के द्वारा उपासना अर्चना, वन्दना, पाद सेवन करो। षोडशोपचार पूजा करते हैं लेकिन भगवान् मूर्ति तक सीमित नहीं हैं, वे सर्ववान्तर्यामी सर्वव्यापी घट-घट वासी हैं। इसी सम्बन्ध को मन में रखकर प्रत्येक प्राणी के चरणों में मानसिक प्रणाम करें। इसको भी पाद सेवन कहते हैं, जिसकी भी सेवा करें भगवान् के चरण समग्र कर ही सेवा करें। पत्नि पतिदेव की चरण सेवा करती है तो पति को साक्षात् भगवान् समझ कर करें। पुत्र-पुत्री, माता-पिता की सेवा करते हैं तब समझना चाहिए माता-पिता साक्षात् देवता स्वरूप हैं। बड़ों की सेवा, आगन्तुक अतिथि, गुरुजनों की सेवा भी पाद सेवन कहलाती है।

श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन द्वारा भक्ति परिपक्वता को प्राप्त कर लेती है, प्रेम भक्ति का रूप धारण कर लेता है। फिर ऐसी बाह्य साधना धीरे-धीरे तुमसे दूर हट जाती है। तुम्हारा अन्तःकरण सदा सर्वदा के लिए भगवान् की ओर जाने लग जाता है। तब तुम्हारी साधना सूक्ष्म अन्तरंग स्वरूप धारण कर लेती है। अपने व्यक्तित्व को ही आध्यात्मिक दृष्टि से देखने लग जाते हो। ऐसा प्रतीत होने लगता है कि मैं भगवान् का दासानुदास हूँ, प्रपंच से सम्बन्धित कोई व्यक्ति नहीं हूँ। फलाना परिवार का सदस्य हूँ, अमुक नगर का वासी हूँ-ये भावना ही मिट जाती हैं। मैं दासानुदास हूँ, यह व्यक्तित्व हमारे अन्तःकरण में बस जाता है और प्रपंच का व्यक्तित्व हट जाता है। भगवान् ही मेरे मालिक हैं, सर्वस्व है, उनकी सेवा ही मेरा जीवन है। ऐसा परिवर्तन हो जाता है, यह आध्यात्मिक पुनर्जन्म है। दास्य भाव से उनके निकट पहुँचते-पहुँचते उनके सम्बन्धी बन जाते हैं। हमारी दीनता मिट जाती है। स्नेह के कारण मित्रता हमारे अन्दर आ जाती है जिसे सख्य भाव कहते हैं। जैसे ग्वाल-बालों ने कृष्ण परमात्मा के साथ गुली डण्डा खेला, उनके कन्धों पर सवार होकर माखन चोरी की। अपनी पराकाष्ठा पर पहुँची निकटता भी मिटकर भगवान् के साथ एकता बन जाती है। हम और भगवान् भिन्न नहीं हैं, एक ही हैं। अन्तः चेतना में अपने आप का होश चला जाता है, केवल भगवान् का ही होश रहता है। परम प्रेम भगवान् का ही स्वरूप बन जाता है। इस अवस्था में हमारा अन्तःकरण अपने आपको भूल जाता है, केवल भगवान् ही भगवान् रह जाते है। यह अन्तिम आत्म निवेदन की साधना है। यह नौ प्रकार की साधना में प्रेम साधना की पराकाष्ठा है। यह आपका अतुल्य ऐश्वर्य दिव्य प्रेम का शास्त्र है।

तीसरा मार्ग है-मानसिक शक्तियों द्वारा मन की चंचलता को समाप्त करके अन्तर्मुखी बनाना। यह योग विज्ञान मन पर आधिपत्य जमाने के लिए क्रमिक साधनाओं को बताता है। सबसे पहले स्थूल और सूक्ष्म तत्त्वों पर नियन्त्रण करना होगा। यम के द्वारा सगुणों का विकास होता है। नियम द्वारा मनुष्य अपनी आदतों पर नियन्त्रण करके अपने आचरण को दिव्य बना लेता है तथा संकल्प शक्ति द्वारा उत्तम आदतों का निर्माण करता है। आसन द्वारा निरुद्देश्य गतियों पर नियन्त्रण करके शरीर को स्थिर रखता है। प्राणायाम द्वारा प्राण की गति को अपने वश में करके मन की चंचलता एवं विक्षेप को थाम लेता है। विचारों के दमन कर लेने के बाद भी कामनाओं तथा तृष्णाओं के द्वारा मन में अशान्ति आ जाती है। तब प्रत्याहार द्वारा इन्द्रियों को विषयों से हटा लेते हैं अन्तर्मुख मन को किसी एक विचार या मूर्ति पर एकाग्र करते हैं। गम्भीर धारणा ही ध्यान बन जाती है। गम्भीर तथा अबाध ध्यान समाधि को प्राप्त करता है। परमात्मा के साथ सुखमय योग को प्राप्त करते ही जन्म-मृत्यु का चक्र समाप्त हो जाता है। योगी से ईश्वरीय शक्ति अबाध प्रवाहित होती है तथा वह ईश्वरीय योजना की पूर्ति हेतु ही अपना जीवन-यापन करता है। यह तीसरा योग शास्त्र अष्टांग योग है।

चौथा मार्ग है-अपने कर्त्तव्य कर्मों को दिव्य भाव से करके प्रभु को निःस्वार्थ भाव से समर्पण करना। "**यद्यत्कर्म करोमि तत्तदखिलं शम्भो तवाराधनम्**" हे प्रभो! जितने भी अनिवार्य कर्त्तव्य कर्म हैं, उनको मैं प्रपंच के कर्म नहीं समझते हुए तेरी आराधना समझता हूँ। सब तेरे लिए करता है क्योंकि तुम सर्वत्र विराजमान हो। जहाँ पर भी मैं हूँ, तेरे सामने ही हूँ और तुम मेरे सामने हो। सब कर्मों का अध्यात्मीकरण करके भगवान् के साथ मेल बनाये रखना- इसको कहते है निष्काम कर्मयोग।

प्रपंच में रहकर गृहस्थ धर्म में परिवार का पालन पोषण करते हुए भी व्यक्ति साधना करना चाहता है। गीताज्ञानोपदेश में भगवान् ने कहा है, ठीक है कर्म करो किन्तु मेरे वास्ते करो, मेरी आराधना समझ कर करो। कर्म करो, मैं करता हूँ, इस अभिमान से मत करो। "**निमित्तमात्र भव सव्यसाचिन्**" गीता/११/३३ भगवान् की शक्ति ही काम करती है मैं केवल निमित्त मात्र, उनका यन्त्र मात्र हूँ। अर्पण की भावना से सर्वसाधारण कर्म योगमय बन जाते हैं, अध्यात्मीकरण करने से भगवान् से सम्बन्ध जुड़ जाता है। इसी को गीताज्ञानोपदेश में निष्काम कर्म योग शास्त्र कहते हैं। ब्रह्म सूत्र में विचार मार्ग ज्ञान योग का निरूपण किया गया है। नारद भक्ति सूत्र, शांडिल्य भक्ति सूत्र, भागवत महापुराण, सन्तों की प्रचलित भाषाओं में रचना आदि से भक्ति योग विज्ञान को जान सकते हैं। योग मार्ग, ध्यान मार्ग के लिए महर्षि पतंजलि का अष्टांग योग सूत्र है। इसके ऊपर महर्षि व्यास जी ने

व्याख्या लिखी है और वाचस्पति मिश्र ने इसके ऊपर टिप्पणी लिखी है। सभी प्रकार के योगमार्गियों के लिए व्यवहार क्षेत्र में कार्य करना अनिवार्य है। हमारे आन्तरिक आध्यात्मिक जीवन के लिए, योगाभ्यास के लिए, साधन मार्ग के लिए व्यवहार अनुकूल होना चाहिए। अन्यथा आपने आन्तरिक योग क्षेत्र में जो प्राप्त किया है वह व्यवहार के क्षेत्र में खो देंगे। इसलिए हर योग का अनुसरण करने वालों को कर्म योग की सहायता चाहिए। सदा-सर्वदा भगवान् के सान्निध्य को अपने जीवन में महसूस करते हुए आराधना का भाव रखते हुए कार्य करें और उन्हें भगवान् के चरणों में अर्पित करें। कर्म समर्पण करने से कर्म "योग" का रूप धारण कर लेता है, जीवन आध्यात्मिक बन जाता है, परमार्थ तत्त्व के साथ सम्बन्ध जुड़ जाता है।

इसको योग शास्त्र इसलिए कहते हैं क्योंकि ये हमारा और भगवान् को संयोग कराने वाला शास्त्र है। दुःख-संकट शोक से वियोग कराने वाला शास्त्र है। **"तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसञ्ज्ञितम्** गीता/६/२३ परात्पर तत्त्व में निवास करने से ही आप विज्ञानवेत्ता होंगे, आपमें स्वतन्त्र बुद्धि उत्पन्न होगी, जिसकी सहायता से आप आनन्द के राज्य में प्रवेश करेंगे। अपने राष्ट्र के अमूल्य ऐश्वर्य का परिपूर्ण सदुपयोग करके जीवन को सफल करके धन्य बना ले। इस बात की तरफ प्रेरित करते हुए आज की सेवा समाप्त करता हूँ। हरि ॐ।

६

निष्काम कर्म योग का उद्देश्य

(१९.३.८७ को भावनगर में सप्तम अखिल गुजरात दि. जी. सं. समारोह में दिया गया प्रवचन)

आनन्दमय दिव्य आत्मस्वरूप !

इस ज्ञान यज्ञ के समारोह में एकत्रित आप सब भगवद् प्रेमी, जिज्ञासु, हुद्ध, साधकवृन्द, धर्मप्रेमी श्रोतागण, सत्संगी के रूप में उपस्थित आप अविनाशी दिव्य आत्माओं की सेवा में शताब्दी महोत्सव किस प्रकार से नाना चाहिए, किस प्रकार से मनाने में हम स्वयं ज्यादा लाभान्वित हो सकते हैं और समाज को, देश को लाभान्वित कर सकते हैं, इस विषय पर अपनी भावनाएँ एवं विचार प्रकट करना चाहता हूँ। इसी के द्वारा आप सब के शरीर रूपी मंदिर में उपस्थित-

'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च।'

के दिव्य चरणों में पुष्पाञ्जलि समर्पण करना चाहता हूँ।

शताब्दी मनाना बहुत प्राचीन प्रथा है। सत्य सनातन वैदिक धर्म की द्धति में, भारतीय संस्कृति की भावना एवं दृष्टि से जन्म-जयन्ती मनाने का अर्व आराधना, भक्ति-भजन करने का शुभ-सुन्दर अवसर है। जैसे कृष्ण जयन्ती के वार्षिक उत्सव पर हम उपवास करते हैं, जप करते हैं, रात्रि में आठ से बारह बजे तक स्तोत्र पाठ, संकीर्तन, अभिषेक द्वारा महापूजा समर्पण करके आरती करते हैं। सबसे पहले तुलसी चरणामृत लेकर इसके बाद अर्पण किये हुए भोग में से प्रसाद ग्रहण करते हैं। इस प्रकार एक पवित्र आाद अर्पण किये आराधना, भक्ति-भजन, व्रत-उपवास आदि करते हैं। हमारे आश्रम का विधान तो कुछ अन्य ही है-जन्माष्टमी से आठ दिवस पहले द्वादशाक्षरी मंत्र 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' का कीर्तन निश्चित संख्या में करते है, ॐ नमो भगवते वासुदेवाय स्वाहा-स्वाहा' की आहुति देकर हवन करते हैं। रामनवमी के उत्सव पर प्रथमा से नवमी तक 'श्री राम जय राम जय जय राम' का कीर्तन करते हैं। महाशिवरात्रि पर चौदह दिन पहले से पंचाक्षरी मंत्र 'ॐ नमः शिवाय' का जप-कीर्तन करते हैं। कई लोग निर्जला व्रत करते हैं, रात्रि के चार प्रहर जागरण करके पूजा, पाठ, अभिषेक करते हैं। इसी प्रकार विशेष महापुरुषों की जन्म-जयन्ती मनाने का तरीका है। यह केवल मात्र खुशी मनाने, फोटोग्राफ लेने, उपहार देने, गाने-नाचने का अवसर नहीं है।

इस अवसर से धार्मिक और आध्यात्मिक लाभ प्राप्त करने के लिए हमारे अन्दर पवित्र भावना होनी चाहिए। इसे सक्रियतापूर्वक मनाना चाहिए। जहाँ पर उत्साह है, सक्रियता अपने आप आ जाती है। जहाँ उत्साह नहीं है, वहाँ अच्छा काम भी मन्दा हो जाता है। आप सबके लिए सोचने समझने के लिए यह एक अच्छा बिन्दु है कि स्वामी शिवानन्द जी एवं उनके साहित्य के सम्पर्क में आने से पहले आपका जीवन, विचारधारा, व्यवहार कैसा था और सम्पर्क में आने के बाद प्रेरित होकर आपके जीवन में क्या क्रांतिकारी परिवर्तन हुआ, इस पर सोचकर आपके अन्दर कृतज्ञता और आभार प्रकट करने की भावना आ जायेगी एवं श्रद्धा-भक्ति, विश्वास और प्रेम स्वतः ही आ जायेगा। सोचो, समझो, बार-बार मन में विचार करो कि जो हमने उनसे प्राप्त किया है, उसके बदले में हम क्या कर सकते हैं? जितना प्राप्त किया है उसको अदा करने के लिए कई जन्म लेने पड़ेंगे। कम से कम इस जन्म में जो लाभ प्राप्त किया है, उसके लिए उनके प्रति आभार प्रकट करें। उनके द्वारा भगवान् ने हमको क्या दिया है ? गुरु महाराज कहते थे—मैंने कोई मिशन ही रखा है, मैं कुछ भी नहीं कर रहा हूँ भगवान् ही करवा रहे हैं। उनके प्रति जन्मशताब्दी गम्भीरतापूर्वक साधना एवं भक्ति-भजन करने का शुभ-सुन्दर अवसर है।

जहाँ तक समाज सेवा की बात है, उसको मैं स्पष्ट करना चाहता हूँ। समाज सेवा, गरीब की सेवा, आर्त की सेवा, प्राणी मात्र की सेवा दिव्य जीवन संघ का मुख्य उद्देश्य नहीं है। दिव्य जीवन संघ का मुख्य उद्देश्य मानव के जीवन में आध्यात्मिकता, धार्मिकता, योग साधना को लाना है। इसको अच्छी तरह से समझो। गुरुमहाराज ने सेवा को कम स्थान नहीं दिया था। साधना तत्त्व के चार्ट में उन्होंने लिखा है 'कर्मयोग सर्वश्रेष्ठ योग है, दूसरों की भलाई करना सर्वोत्तम धर्म है।' किन्तु उन्होंने दिव्य जीवन संघ की स्थापना एक समाजसेवी संस्था के रूप में नहीं की थी। जैसा कि कई प्रकार की समाज सेवा की संस्थाएँ होती हैं, हमें नाम पता नहीं है। भारतवर्ष में इन संस्थाओं की कोई कमी नहीं है।

१९३६ में दिव्य जीवन संघ की स्थापना के लिए गुरु महाराज का स्पष्ट मुख्य उद्देश्य आधुनिक युग की बीसवीं शताब्दी में मानवता में आध्यात्मिक जागृति और नैतिक जीवन की प्रेरणा देना था। मानव मात्र में धर्म का पुनरुत्थान, पुनर्जागरण, आध्यात्मिक जागृति हो। आध्यात्मिक जागृति का क्या अर्थ है-हे मानव ! तुम प्रपंच में केवल मर के चले जाने के लिए नहीं आये हो, बल्कि परमार्थ तत्त्व को प्राप्त करने के लिए आये हो। प्रपंच में आये हो तो व्यवहार करना ही पड़ेगा, तुम चाहो या न चाहो। यह इस प्रकार करो जिससे प्रपंच तुम्हारे परमार्थ के मार्ग में बाधा बनकर न खड़ा हो, दुःख का कारण नहीं बन जाये। अज्ञान के अन्धकार में आये हो, और भी गहरे अन्धकार में न पहुँच जाओ। बन्धन में आकर तड़प रहे हो, प्रपंच इतना वैषम्य न हो कि और अधिक बन्धन में जकड़ कर रख देवे। जन्म भर रोते रोते मरने के बाद पुनः यहाँ रोने के लिये आना पड़े-

'पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि जननी जठरे शयनम् ।'

पुनः जन्म, पुनः मृत्यु तथा पुनः माता के गर्भ में पड़ना, ऐसा न हो।

प्रपंच के जीवन में धार्मिक तत्त्व को लाओ, जिससे प्रपंच साधना में सहायक हो। तुम्हारा धार्मिक व्यवहार हो, सात्विक आचरण हो, सदाचार हो, सुन्दर, पवित्र, ऊँचा आदर्श चरित्र हो। जीवन में आध्यात्मिक जागृति का यही अर्थ है।

भगवद् प्राप्ति, आत्मज्ञान, भगवद्-साक्षात्कार, आत्म-साक्षात्कार के लिए मानव शरीर धारण करके आये हो। ऐसा बताने वाले विरले पुरुष ही होते हैं। संसार-मंच पर अपनी दिव्यता को पहचान कर के सदा के लिए मुक्त होने हेतु यहाँ पर आये हो। ऐसा बताने वाला हजारों लाखों में कोई एक महापुरुष होता है। भारतीय दर्शन और अध्यात्मवाद को सजग और सक्रिय रखने की अत्यन्त जरूरत थी क्योंकि इसका अभाव होता जा रहा था। उपनिषद् काल के ऋषि मुनियों की परम्परा में जन्म लेकर, इस बीसवीं शताब्दी में उन ऋषि मुनियों का प्रतिनिधि बनकर गुरुदेव ने उनके आह्वान को पुनः घोषित किया-

उत्तिष्ठत ! जाग्रत ! प्राप्यवरान्निबोधत !

हे अमृतस्य पुत्राः ! उठो, जागो, और उसको प्राप्त कर लो। इस प्रकार गुरु महाराज ने उसी सन्देश, आदेश, उपदेश को पुनः हमें देकर आशीर्वादित किया है। योग क्या है? ऐसा जब लोग पूछते हैं तब गुरु महाराज सेवा की बात करते हैं। चार योगों में निष्काम कर्म भी एक योग है। सेवा का महत्त्व भी उनकी दृष्टि में इसलिए था कि भक्ति भजन के लिए, धारणा ध्यान के लिए, विवेक-विचार हेतु, आत्म साक्षात्कार, वेदान्त- श्रावण, मनन, निदिध्यासन में तुम्हारी भूमिका निःस्वार्थ एवं पवित्र होनी आाहिए। सेवामय, परोपकारमय, दयामय जीवन के द्वारा ही हमारा हृदय भक्ति, भजन एवं ध्यान के लिए शुद्ध बनता है। इसी तैयारी के लिए ही सेवा का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसलिए गुरु महाराज ने अन्य योगों का आधार निष्काम कर्म को बताया।

शंकराचार्य जी भी कहते हैं कि स्वार्थ को तिलांजलि देकर, अहंकार-अभिमान को चूर्णित करके, नीचे से नीचे व्यक्ति को भगवान् समझ करके दरिद्र नारायण, आर्तनारायण, दुःखी नारायण की तथा हरिजनों की झोपड़ियों में जाकर हरिजनों की सेवा करोगे, तब जाकर तुम्हारे अन्दर आत्म साक्षात्कार के लिए जो सबसे बड़ा विघ्न है अहंकार और स्वार्थ रूपी जो महारोग है, वह समाप्त होकर चित्त शुद्ध होगा। शुद्ध चित्त में ही भगवान् के लिए सच्ची भक्ति आ सकती है, वरना तथाकथित भक्ति है, वास्तविक भक्ति नहीं है। हमारी भगवान् के प्रति जो भक्ति है, वह अपने वास्ते है, उनके वास्ते नहीं है। हमारे एक बहुत पुराने वृद्ध गुरु भाई, राधा रानी के जन्म स्थान बरसाने में रहते हैं-स्वामी हरिशरणानन्द जी, वह कहते हैं-मानव की सबसे बड़ी समस्या इस कारण है कि सब 'भगवान् का' चाहते हैं। प्रपंच में माया बाजार की वस्तु पदार्थों को सब कोई चाहता है किन्तु 'भगवान् को' कोई नहीं चाहता है। यदि हम 'भगवान् का' चाहना छोड़कर 'भगवान् को' चाहेंगे तो एक क्षण में ही हमारा बेड़ा पार हो जायेगा, सर्व दुःख निवृत्ति हो जायेगी, परमानन्द प्राप्त हो जायेगा। लेकिन भगवान् को कोई नहीं चाहता, उनकी रचना को चाहते हैं।

भक्त प्रहलाद की तरह, 'हे प्रभो! हमें कुछ नहीं चाहिए केवल मात्र आपके चरणारविन्द में रति, अहर्निश प्रेम भक्ति चाहते हैं, ' ऐसी भावना तब उठेगी जब हम अपने सुख-आराम, स्वार्थ, अभिमान को छोड़कर परोपकार के द्वारा दूसरों का दुःख हरण करने के लिए निःस्वार्थ सेवा में लग जायेंगे, यहाँ तक कि धन्यवाद सुनने की भी अपेक्षा नहीं रखेंगे। सेवा से, कर्म योग से चित्त शुद्ध होता है और शुद्ध चित्त में भगवान् की भक्ति आती है। इसलिए यह महत्त्वपूर्ण चीज है, यह प्रवेशिका है। भक्ति के द्वारा हम साकार सगुण स्वरूप की उपासना करते-करते मन के विक्षेप एवं चंचलता को मिटाकर मन में एकाग्रता एवं स्थिरता को लाते हैं। एकाग्रचित्त के द्वारा ध्यान कर सकते हैं। बिना एकाग्रता के ध्यान कल्पना मात्र है। ध्यान होता नहीं है, मनोराज्य होता है, बैठे-बैठे स्वप्न लेते रहते हैं। भक्तियोग के द्वारा चंचलता और विक्षेप को हटाकर के मन की एकाग्रता द्वारा ध्यान और फिर दीर्घ ध्यान में अज्ञान का आवरण हट कर साक्षात्कार होता है। ये सब आदि शंकराचार्य ने साधना के विषय में बताया है। ज्ञानयोग साधना में श्रवण, मनन और निदिध्यासन बताया है। भक्ति योग साधना में नवधा भक्ति बतायी है। ध्यान योग के लिए अष्टांगयोग अर्थात यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि बताया। भक्ति, ज्ञान एवं ध्यान योग के लिए निष्काम कर्मयोग अनिवार्य है क्योंकि निःस्वार्थ, अभिमानरहित सेवा से ही मन का मल हटता है। मल क्या है? काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य, ईर्ष्या, द्वेष, तृष्णा, स्वार्थ, अहंकार, दर्प, दम्भ आदि हैं।

इसलिए स्वार्थ को तिलांजलि देकर, अभिमानरहित, अहंकारशून्य, दयामय एवं अर्पित भाव से हर प्राणी में ईश्वर को देखते हुए परोपकार करना चाहिए। चित्तशुद्धि के लिए निष्काम कर्मयोग ही एक मात्र उपाय है, मार्ग है। पवित्र मन में भगवद् अनुग्रह एवं उनकी सच्ची भक्ति आती है। हमारे एवं भगवान् के बीच मल-विक्षेप-आवरण ये तीन बाधाएँ हैं। साकार सगुण की उपासना द्वारा मन का विक्षेप हट जाता है। दीर्घ ध्यान द्वारा अज्ञान अविद्या का आवरण हट जाता है एवं आत्म ज्ञान की प्राप्ति होती है। ईश्वर साक्षात्कार को ध्यान में रखकर समाज सेवा करना ही गुरु महाराज द्वारा बतायी हुई सेवा है, दिव्य जीवन संघ की सेवा है। ईश्वर से विमुख होकर यदि सेवा में लगे तो वह सेवा नहीं है। बन्धन में जकड़ जाओगे, फंस जाओगे। कार्य क्षेत्र का बड़ा विकट जाल है। इसमें फँसने पर ब्रह्मा, विष्णु, महेश को भी रोना पड़ता है। इसलिए अनासक्त, निस्पृह एवं निर्लिप्त होकर सेवा करें। सेवा कार्य में उतरना बच्चों का खेल नहीं है। एक बड़े ऋषि को हिरन के बच्चे पर दया आ गयी तो पूरे जीवन भर की तपस्या, ध्यान और भजन को खोकर पुनः हिरन हो कर ही जन्म लेना पड़ा।

'असाधनानुचिन्तनम् बंधायभरतवत्'

यदि ईश्वर साक्षात्कार की तीव्र आकांक्षा नहीं रही तो सेवा आपको अज्ञान, अन्धकार और बन्धन में ले जायेगी। इससे चित्त शुद्ध न होकर और अधिक मलिन हो जायेगा। सेवा का क्षेत्र बड़ा खतरनाक है। बहुत लोगों से सम्पर्क करना पड़ता है जो विपत्ति कारक है। 'अरतिर्जनसंसदि' जन सम्पर्क में रति नहीं होनी चाहिए, एकान्तवासी

होना चाहिए। मानव-मानव के सम्पर्क से मन में आसक्ति, ममता आदि विकार आते हैं। इससे बचने के लिए हमारे हृदय में शत प्रतिशत भगवान् का शासन होना चाहिए। भगवद् साक्षात्कार के लिए अत्यन्त तीव्र आकांक्षा होगी, तभी सेवा, 'कर्म योग' हो सकती है। सदा-सर्वदा यह जाग्रति रखनी चाहिए कि हमारा जन्म भगवद् साक्षात्कार के लिए हुआ है। हमारा सब कुछ, सेवा-भक्ति, दान-पुण्य, आत्म-ज्ञान प्राप्ति के लिए है।

गुरु महाराज ने पुरुषार्थ चतुष्टय को बताते हुए कहा कि जिसने परम पुरुषार्थ को ध्यान में रखकर सेवा की, वही दिव्य जीवन संघ के क्षेत्र में योगी है, साधक है। 'ब्रह्म सत्यं जगत् मिथ्या' बात को मत भूलो, सब माया जाल प्रपंच है, भगवान् की लीला है। इसको भगवान् का स्वरूप मानकर सच्चा मानो, वरना फंस जाओगे। कुछ भी करो किंतु अपनी आध्यात्मिकता को परिपूर्ण शत प्रति शत बनाये रखो, यह गुरु महाराज का मुख्य आदेश है।

युद्ध करने के लिए भगवान् ने अर्जुन को आदेश दिया, '**क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप**' भगवान् स्वयं कहते हैं- '**मामनुस्मर युद्धय च**' मेरा स्मरण करते हुए युद्ध कर । '**योगस्थः कुरु कर्माणि**' कर्म करते जाओ लेकिन अन्दर योगावस्था रखो। हमारा तुम्हारा सम्बन्ध घनिष्ठ, अखण्ड और अटूट रहे, मुझे भूलो नहीं। पहले भगवान्, फिर कर्तव्य कर्म। गुरु महाराज द्वारा बतायी गयी सेवा का आधार भगवान् हैं, भगवद्भक्ति है। भगवत् साक्षात्कार, धार्मिकता, सदाचार, परोपकार को आधार बनाकर समस्त कार्य करना। '**हम सब नाम-रूपों में तुम्हारा दर्शन करें। तुम्हारी अर्चना के ही रूप में इन नाम-रूपों की सेवा करें।**' गुरु महाराज ने कहा है-सेवा करो भगवत् साक्षात्कार के लिए, भक्ति-भजन करो भगवत् साक्षात्कार के लिए, ध्यान करो भगवत् साक्षात्कार के लिए और वेदान्त ज्ञान प्राप्त करो भगवत् साक्षात्कार के लिए। सेवा, भक्ति, ध्यान एवं ज्ञान के पीछे एकमात्र उद्देश्य होना चाहिए-भगवान्, भगवान् और केवल भगवान्। हमारे दिन-प्रतिदिन के आचरण के लिए अन्य ३ तत्त्व भी गुरु महाराज ने दिये हैं- सत्यपरायणता, अहिंसात्मक प्रेममय, दयामय एवं करुणामय व्यवहार तथा परिशुद्ध आचरण, उत्तम चरित्र। इन सात तत्त्वों को ध्यान में रखकर व्यवहार करने से यह जीवन निश्चित रूप से दिव्य जीवन होगा। हरि ॐ।

७

सुखी जीवन के लिए साधना

(सांगली में २३.११.८४ को दिया गया प्रवचन)

१४ जुलाई १९६३ को गुरु महाराज महासमाधिस्थ हुए, गुरुपूर्णिमा के बाद नवमी तिथि को। उनका साहित्य सत्य पथ को बताने वाला है। गुरु महाराज की पुस्तकों का अनेक प्रान्तीय भाषा में अनुवाद हो चुका है। मानसिक शक्ति पुस्तक तथा गुरु महाराज की जीवनी का विशेष तृप्ति के साथ विमोचन कर रहा हूँ। प्रकाशन के

कार्य में जिसने भी सहयोग दिया है, उनके ऊपर परमपिता परमात्मा के दिव्य अनुग्रह की वर्षा चाहता हूँ। गुरु महाराज की परिपूर्ण कृपा एवं आशीर्वाद के लिए प्रार्थना करता हूँ।

प्रिय आत्मस्वरूप, हमारे प्यारे आत्म बन्धु ! पुनीत भारतवर्ष की पुण्य भूमि जिसकी संस्कृति आदर्श धर्म, आदर्श विचारधारा से ओत-प्रोत है, प्रपंच के भौतिक वस्तु-पदार्थ के आधार पर इसकी मूल्यता नहीं है । मानव की मूल्यता सगुणों से आदर्श चरित्र से बनती है, सम्पत्ति के ऐश्वर्य से नहीं। दूसरों के लिए कितना उपकार किया, लोक कल्याण के लिए कितनी चेष्टा की, इन बातों से जीवन की मूल्यता आँकी जाती है। परम पवित्र भूमि भारतवर्ष की सन्तान होने के कारण दिव्य और उज्वल संस्कृति पर आपका जन्म सिद्ध अधिकार है।

आज का विषय 'सुखी जीवन के लिए साधना' है। इसके विषय में कौन नहीं जानना चाहता है? सभी सुख चाहते हैं। दुःख दर्द, कष्ट-पीड़ा अथवा व्याधि को मानव नहीं चाहता है। यदि आ जाये तो तुरन्त उसके निवारण करने की चेष्टा करता है। दाँत, कान, नाखून में दर्द हो, तो वैद्य, हकीम, डॉक्टर आदि के पास जाता है, औषधियाँ टटोलता है, उपचार द्वारा मुक्त होना चाहता है। काँटा चुभ जाये तो तुरन्त निकालने की चेष्टा करेगा। एक क्षण के लिए भी दर्द असहनीय है। 'दुःखं मा भूयात् सुखं भूयात्' प्रत्येक मानव को सुख चाहिए, यह सब की सहज इच्छा है। यह वैश्वात्मक गुण है-सुख चाहिए दुःख नहीं चाहिए। सुखमय जीवन बिताने के लिए सभी अपनी सोच समझ के अनुसार विविध प्रकार की साधनाओं में लगे हुए हैं। आजकल हिन्दुस्तान में, पाश्चात्य देशों में सुख देने वाले बहुत प्रकार के साहित्य प्रकाशित हो चुके हैं। पाश्चात्य देश में 'सुख के रहस्य क्या है?' 'आसानी से सुख की प्राप्ति कैसे हो?' आदि कई किताबों का हिन्दुस्तान में हिन्दी एवं अन्य भाषाओं में अनुवाद हो चुका है, और भी हो रहा है।

ऐसा साहित्य लिखकर लेखक तो अपना जीवन सुखमय बना लेते हैं क्योंकि सुख प्राप्ति की सब जगह अत्यधिक माँग है, इसलिए लाखों की संख्या में ऐसी किताबों का विक्रय हो जाता है। आसानी से सुख की प्राप्ति के लिए पोस्टल लेखन का सहारा लेते हैं। यदि कहीं १५ दिन का कोर्स भी करना पड़े तो बड़ी संख्या में लोग इकट्ठे हो जाते हैं।

सुख की खोज के लिए इतने अधिक प्रयास करने के बाद क्या मानव को पूर्णतया सफलता मिल गई है? अपने से और समाज से प्रश्न पूछे! निष्पक्ष दृष्टि से एवं आत्मवंचना नहीं करते हुए हमें यह मानना पड़ेगा कि जीवन में पूर्णरूपेण सुख का अनुभव किसी भी मानव को प्राप्त नहीं होता है। कुछ न कुछ कमी रह ही जाती है। सुख की प्राप्ति के लिए योजनाबद्ध कोशिश करने से कुछ मात्रा में सफलता भी मिलती है, उसकी तरफ आगे भी बढ़ते हैं। साथ में यह भी देखते हैं कि अनेक परिस्थितियों के कारण दुःखों का प्रहार भी हो रहा है जिसको हम चाहते नहीं हैं। इस प्रपंच में केवल सुख असम्भव सा प्रतीत होता है। मानव को हमेशा इनका मिश्रित अनुभव होता है। कभी कभी जिस साधन, स्थान, व्यक्ति, परिस्थिति से सुख के लिए प्रयत्न करता है, उन्हीं साधनों से अधिक दुःख का अनुभव करता है। थोड़ा-सा आत्मनिरीक्षण करने से अनुभव में आ जायेगा कि सुख की प्रतीक्षा ही दुःख की प्रतीति करवा देती है।

जितने भी ज्ञानी, तपस्वी, विचारक हुए हैं, उन्होंने अपनी पूर्ण विवेकात्मक, विश्लेषणात्मक दृष्टि से अन्तिम निर्णय यही दिया है कि प्रपंच अपने स्वभाव से ही अपूर्ण है। सभी पदार्थ अशाश्वत एवं नाशवान हैं। इनका आदि भी है और अन्त भी है। वस्तु की समाप्ति से हमारा उससे वियोग हो जाता है। संयोग से सुख और वियोग से दुःख होता है। प्रपंच के समस्त वस्तु-पदार्थ, देश-काल में सीमित हैं। इसमें परिवर्तन का दोष है, जो वस्तु आज सुन्दर, सुखदायी, मधुर और आकर्षक प्रतीत हो रही है, परिवर्तन के बाद वह सुन्दर नहीं रह जाती है। पूर्वावस्था में जिससे सुख प्राप्ति की प्रतीक्षा की थी, उत्तरावस्था में उसका अभाव हो जाता है। किन्तु परिवर्तनशील वस्तु में अपूर्णता है, यह जानते हुए भी अविवेक के कारण मनुष्य सोचता है कि मैं ऐश्वर्य और सम्पत्ति प्राप्त करके सुखी हो जाऊँगा। यह बिल्कुल असंभव है।

युवावस्था, यश, ऐश्वर्यशाली सम्पन्न राज्य और हर प्रकार के भोग भोगते हुए भी व्यक्ति त्यागी-योगी बन जाते हैं। महान् सम्म्राट शुद्धोधन के राजकुमार सिद्धार्थ के लिए जीवन में क्या कमी थी? शिशु सिद्धार्थ के जन्म के अवसर पर ज्योतिषियों ने उनके माता-पिता के सामने भविष्यवाणी की, बालक का जन्म अत्यन्त सुन्दर मुहूर्त में हुआ है, युवावस्था को प्राप्त होने पर यह बालक या तो एक चक्रवर्ती सम्राट होगा या गृह-त्याग के पश्चात साधु-यति-वेष धारण कर मानव जाति की। मुक्ति के लिए ज्योतिर्मयी प्रज्ञा से सम्पन्न बुद्ध हो जायेगा। दो सम्भावनाएँ हैं, किसी एक में सबसे ऊँची पदवी प्राप्त करेगा।' सम्राट शुद्धोधन भयभीत हो जाते हैं, सोचते हैं कि क्षत्रिय राजपद में यशस्वी हो जाये तो बहुत अच्छा है। रेलगाड़ी अपनी पटरी बदल कर दूसरे रास्ते पर चली गयी तो हमें बड़ा भारी नुकसान हो जायेगा। किसी भी प्रकार वैराग्य, त्याग, विरक्ति की भावना का अवसर उसके सामने नहीं आने देना चाहिए। उनके चतुर्दिक् विलास तथा सम्मोहन के समस्त उपकरणों की व्यवस्था कर दी गयी। ऐसी संगति, वातावरण, पर्यावरण में रखा गया जिसमें सुन्दर-सुन्दर उद्यान, संगीत तथा नृत्य आदि सभी उपलब्ध थे ताकि सुन्दर सुकोमल राजकुमार के हृदय में दुःख दर्द का ख्याल भी नहीं आवे। किन्तु विधि का विधान कुछ और ही था। युवावस्था में अपने निवास स्थान से बाहर आते ही एक जर्जरकाय वृद्ध, एक रोगग्रस्त व्यक्ति, एक शव तथा एक साधु को देखकर क्रान्तिकारी परिवर्तन आ गया। अन्ततः उन्होंने संसार-त्याग का निश्चय कर लिया। गृह, धन, राज्य, सत्ता, माता-पिता, विवाहिता पत्नी यशोधरा तथा अपने एकमात्र पुत्र राहुल का सदा के लिए परित्याग कर दिया। तमाम संसार दुःख से पीड़ित है, इससे कोई मुक्त नहीं है। उनका हृदय दया और करुणा से आप्लावित हो गया। उन्होंने अपनी उपलब्धियों में सबको भागीदार बनाना चाहा। सम्पूर्ण देश की यात्रा करके स्थान-स्थान पर मानवता को अपने सिद्धान्तों एवं धार्मिक मान्यताओं का उपदेश दिया। वे एक परित्राता, मुक्तिदाता तथा उद्धारक हो गये।

अत्यंत सुन्दर युवावस्था, हृष्ट-पुष्ट शरीर, राज्यवैभव एवं समस्त ऐश्वर्य का त्याग करके एक अन्य राजकुमार योगी बन गया। कौन नहीं जानता गोपीचन्द्र को ? गोपीचन्द्र पहले बहुत विलासी राजकुमार था, बाद में वह योगी बन गया। इनके ही रिश्तेदार राजा भर्तृहरि ने सुन्दर राज्य कार्य करते हुए, इन्द्रिय सुख भोगते हुए विलासी जीवन बिताया। काव्य की क्षमता सहज रूप से उनके अन्दर थी। राज्य-कार्य करने से उनमें गम्भीरता आती गयी। आदर्श जीवन, उच्च चरित्र, पवित्र आचरण के विशेष तत्त्वों को ध्यान में रखते हुए 'नीति शतक' लिखा। सिंहासन पर रहते हुए उन्हें दुःख, निराशा, दर्द का अनुभव करना पड़ा, तब आँखें खुल गयीं। जीवन का सच्चा स्वरूप क्या है, उसका ज्ञान हो गया। जिसके ऊपर राग-ममता, प्रेम-प्रीति थी, वह वैराग्य में परिवर्तित हो गई, अनासक्त हो गये। वैराग्य उत्पन्न हुआ एवं 'वैराग्य शतक' लिखा जो बहुत ही प्रसिद्ध है। उसमें वे एक प्रश्न पूछते हैं- इस प्रपंच में जीवात्मा के लिए कोई सुख आराम है? फिर कहते हैं-जहाँ तक मेरा अनुभव, विचार है, इस मानव लोक में दुःख के सिवाय कुछ नहीं मिलेगा। इसी संबंध में एक श्लोक लिखा है-

'आयुर्वर्षशतं नृणां परिमितं रात्रौ तदर्द्धं गतं
तस्यार्द्धस्य परस्य चार्द्धमपरं बालत्ववृद्धत्वयोः।
शेषं व्याधिवियोगदुःखसहितं सेवादिभिर्नीयते
जीवे वारितरङ्गचञ्चलतरे सौख्यं कुतः प्राणिनाम्।।'

मानव की सौ साल की आयु निर्धारित थी, तब प्राकृतिक जीवन था। बिजली से रात को दिन बनाने का मामला नहीं था। सूर्योदय से दिन और सूर्यास्त से रात। रात्रि के अन्धकार में प्रगति के लिए चेष्टा की सम्भावना नहीं थी। आराम करना अथवा अन्तर्मुखी होकर स्वाध्याय में लग जाना, बस इतना ही हो सकता था।

सौ साल कहने के लिए कह देते हैं किन्तु आयु का आधा भाग तो निद्रा देवी छीन लेती है। निद्रा में न कोई पुरुषार्थ होता है न कोई प्रयत्न; इसलिए कुछ भी प्राप्ति की संभावना नहीं है। बाकी बचे हुए हिस्से में आधा, माने

२५ वर्ष शैशवावस्था और वृद्धावस्था में चला जाता है। प्रारम्भ के १०-१२ साल बचपन में चले जाते हैं, खेलते-कूदते, गिरते-रोते बचपन बीत जाता है। इस समय में कुछ प्राप्ति के लिए चेष्टा करने का सवाल ही नहीं उठता है। इसी तरह से व्यक्ति ८८-९० की आयु तक पहुँच गया तो अन्तिम जो १०-१२ वर्ष हैं, वो भी निष्फल चले जाते हैं क्योंकि इस आयु में व्यक्ति की स्मरण-शक्ति चली जाती है, अपने रिश्तेदारों को भी नहीं पहचान पाता, आँख से कुछ दीखता नहीं, कान से ठीक सुनता नहीं, हाथ-पैर काँपने लगते हैं। हर काम के लिए उसे औरों के सहारे की जरुरत है। 'तस्यार्धस्य परस्य चार्धमपर बालत्व वृद्धत्वया' इन दोनों हिस्सों के चले जाने के बाद जो २५ वर्ष हैं, उसमें भी क्या वह सुख पा सकता है-

'शेषं व्याधिवियोगदुःखसहितं सेवादिभिर्नीयते'

नौकरी-व्यापार करना पड़ता है, परिश्रम करना पड़ता है। जिंदगी को बनाने के लिए खुशामद करनी पड़ती है। परिश्रम में लगे हुए जीव को प्रारब्ध कर्म के कारण दुःखों का अनुभव करना पड़ता है। जैसे सागर में लकड़ी गिर गयी हो, हवा के झोंके से लहर इस तरफ से पटकती है और उस तरफ से भी पटकती है। ऐसे ही मानव की दशा है, द्वंद्वों की लहरें उसे इधर-उधर पटक रही हैं। उसे सुख कैसे मिलेगा, चैन कहाँ मिलेगा?

'जीवे वारितरङ्गचञ्चलतरे सौख्यं कुतः प्राणिनाम्'

अन्ततोगत्वा भगवान् स्वयं अपनी रचना गीता जी में प्रमाणित कर रहे हैं-हे! अर्जुन '**दुःखालयमशाश्वतम्**' यह संसार दुःखालय है, प्रपंच में कोई भी चीज शाश्वत नहीं है, एक दिन रहकर चले जाने वाली चीज है।

दुःखालय संसार में दुःख का ही निवास स्थान है। जैसे वस्त्रालय में केवल मात्र वस्त्र ही मिलते हैं, पुस्तकालय में केवल पुस्तकें ही मिलती हैं, औषधालय में केवल औषधि ही मिलती है। भोजनालय में आप पुस्तकों का नहीं पूछ सकते, वस्त्र नहीं माँग सकते, इसी प्रकार संसार दुःखालय है, इसमें सुख नहीं मिल सकता है। गीताज्ञानोपदेश में समस्या के साथ साथ उसका समाधान भी बताते हैं।

'**अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्** (९/३३ गीता) 'मेरा भजन' का अर्थ क्या है? यदि हम अशाश्वत अनित्य वस्तु के पीछे जायेंगे तो उनके द्वारा हमें जो अनुभव प्राप्त होगा वह भी क्षणिक और नाशवान होगा। इसी प्रकार नित्य तत्त्व, शाश्वत तत्त्व से प्राप्त अनुभूति भी नित्य और शाश्वत होगी और वह कभी नहीं मिटेगी। परब्रह्म परमेश्वर के पूर्णावतार, भगवान् श्री कृष्णचन्द्र यह कहते हैं। परब्रह्म तत्त्व को अनुभूति के आधार पर श्रुतियों ने घोषित किया है- '**आनन्दं ब्रह्मेति विजानात्**'

ब्रह्मतत्त्व क्या है? अनन्त आनन्दस्वरूप, नित्यानन्दस्वरूप, दिव्यानन्दस्वरूप है। हमारे कल्याण के वास्ते, आँखें खोलने के वास्ते, सुख के अचूक उपाय को दिखाने के वास्ते भगवान् कहते हैं, '**भजस्व माम्**' तुम मुझ नित्य के उपासक बनो। मुझे अपने जीवन का लक्ष्य बनाकर हृदय में केन्द्रीय स्थान देकर साधना में लग जाओ।

स्वामी विवेकानन्द जी के गुरु श्री रामकृष्ण परमहंस देव ने सुन्दर उदाहरण देकर समझाया है। तप्त प्रदेश की उष्णता से मुक्त होने के लिए मानव समुद्र की तरफ प्रयाण करता है। उष्णता को सहन करते हुए प्रवास पर जाता है। अभी समुद्र के दर्शन नहीं हुए हैं और न ही आवाज सुनाई दी है, किन्तु समुद्र के पानी से सीधी छूती हुई हवा उसके अन्दर शीतलता एवं ताजगी भर देती है। इसी प्रकार परब्रह्म के उपासक बनकर आगे बढ़ेंगे तो सुख शान्ति का अनुभव होने लग जायेगा। प्रपंच का बड़ा दुःख भी यदि आक्रमण करेगा तो मानव विचलित नहीं होगा। वह अपने आत्यन्तिक सुख के केन्द्र को खोल कर उसमें स्थित हो जाता है। अन्ततोगत्वा परब्रह्म तत्त्व हमारी अन्तरात्मा ही है। अन्दर से यदि 'फाउन्टेन ऑफ ब्लिस' (आनन्द का निर्झर) खोल दें तो गीता जी के अनुसार,

'यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते' (६/२२ गीता), ऐसी स्थिति में हम स्थापित हो जायेंगे। छोटे-मोटे दुःख तो महसूस ही नहीं होंगे। जिस सुख को आप बाहर ढूँढ़ रहे थे वह आपके ही अन्दर हृदय की गहराई में विराजमान है। मन को अन्तर्मुखी बनाकर, प्रशान्त चित्त से उस तत्त्व पर प्रातः सायं ध्यान करें एवं व्यवहार काल में भी इस तत्त्व से सम्पर्क बनाये रखें। इससे मानव निर्भय बन जाता है 'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्' (२/४० गीता) । अन्तःकरण की समता आ जाने से मनुष्य संसार बन्धन से सुखपूर्वक मुक्त हो जाता है। अन्तर्मुखी बनने से ही निजस्वरूप, आनन्द स्वरूप का बोध होगा।

यमराज और बालक नचिकेता के संवाद में यह प्रश्न आता है कि मानव का मन हमेशा बहिर्मुखी क्यों है ? हमेशा संसार का, नाम रूप का, अनेकों का ही चिंतन क्यों करता है? हमारे अन्दर ब्रह्म तत्त्व विराजमान है, उसकी तरफ क्यों नहीं मुड़ता है? यमराज कहते हैं, 'नचिकेता! ब्रह्मा ने जब मन की सृष्टि की तो रजोगुण उसमें ज्यादा हो गया। इस रजोगुण के कारण ही मन का स्वभाव बहिर्मुखता है, चंचलता है। असंख्य वस्तु पदार्थ में हमारा मन छिन्न-भिन्न होकर विक्षिप्त हो जाता है। जहाँ पर बहुत आशा, तृष्णा, इच्छा है, वहाँ शान्ति भंग हो जाती है। मानव का अन्तःकरण आशा-तृष्णा की अग्नि की प्रचंड ज्वाला की तरह है। आशा तृष्णा को तृप्त करने में यदि मानव लग गया तो ऐसा ही होगा जैसे जलती हुई अग्नि में घी-तेल से स्वाहा करना। इससे अग्नि का शमन नहीं होता है बल्कि धुक-धुक करके अग्नि जोरदार प्रज्वलित हो जाती है। ऋषि-मुनियों ने इसको पहचान कर अनुभव कर लिया है। आशा-तृष्णा को तृप्त करके बुझा नहीं सकते है बल्कि त्याग और इन्कार से ही इसका शमन करना होगा, है आशा ! तृष्णा ! इच्छा! मैंने तुम्हें पहचान लिया है, मुझे तुम्हारी जरूरत नही है, तुम्हें विदा देता हूँ।' ऐसा जाग्रत मानव ही धन्य है, जो समझता है कि आनन्द के लिए मेरे अन्दर ही भरपूर सामग्री है।

'न कर्मणा' न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्त्वमानशुः' त्याग से ही अमृतत्व की प्राप्ति होती है । तृष्णा के फन्दे में हमें नहीं फंसना है, गुलाम नहीं बनना है। गुलाम कभी सुखी नहीं रह सकता, मालिक ही सुखी रह सकता है। अपनी इन्द्रियों को वश में रखकर अपने घर के मालिक बनो। अभ्यास के द्वारा आशा तृष्णा पर विजय प्राप्त करो। इस अभ्यास द्वारा थोड़े ही समय में मन में शान्ति बस जायेगी। शान्ति के साथ-साथ सुख का भी अनुभव हो जायेगा। व्यवहार में सादगीपूर्ण जीवन का आदर्श होना चाहिए। बापू जी कहते थे कि आवश्यकताओं को बढ़ाने से सुख की प्राप्ति नहीं होगी, यह मूर्खता है, अविवेक है। आवश्यकताओं को घटाने से ही सुख मिलेगा। हम अपने जीवन में जितना जितना सादगी को अपनायेंगे, उतना ही हमारे अन्दर सुख-शान्ति आयेगी। आशा तृष्णा को इन्कार करने से हमारे अन्दर एक प्रकार की स्वतंत्रता आ जाती है, परतंत्रता नहीं रह जाती। जहाँ पर स्वतंत्रता आ जाती है, वहाँ पर सुख-शान्ति का अनुभव स्वतः ही आ जाता है।

सन्तोष मनुष्य के लिए सुनहरी चाबी है। जीवन में ज्यादा से ज्यादा सादगी और सन्तोष को अपनाना चाहिए। कितनी कम से कम वस्तुओं से सुखी रह सकता हूँ-सदा यह विचार मन में रखें। प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने प्रारब्ध कर्म के अनुसार सुख-दुःख, लाभ-हानि भोगता है। हमें किसी के जीवन से तुलना नहीं करनी चाहिए, अपने तक ही दृष्टि को सीमित रखना है। भगवान् ने हमारे लिए जितना दिया, उतना पर्याप्त है, उसी में मस्त रहें। सन्तोषी जीवन बनाने की कला को जो जान लेता है, वह सदा सुखी रहता है। उसके मन में दूसरों के प्रति ईर्ष्या नहीं रहती है।

भगवान् ने हमको संसार में दुःख भोगने के लिए नहीं भेजा है। विवेक विचार से संसार की न्यूनता को जानते हुए एवं अपनी परिपूर्णता को पहचानते हुए आत्म तत्त्व की खोज में लगना है। मनुष्य यदि अपने जीवन को भगवतोन्मुख बना ले तो सदा सुखी रहेगा। जैसे यदि किसी व्यक्ति को अपने काम पर जाने के लिए गन्दे मोहल्ले से निकलना पड़ता है, तो पूरे मोहल्ले पर तो वह इत्र नहीं डाल सकता, तो फिर वह क्या करेगा? उससे बचने के लिए सुगन्धित इत्र को अपनी नाक पर लगा ले या रूमाल पर लगाकर अपने जेब में रख ले जिससे नाक में इत्र की ही सुगन्धि आयेगी।

इस संसार को हम बदल नहीं सकते हैं। विवेक विचार से हमारे मन की चेष्टा अन्तर्मुखी हो जाये, उसकी दृष्टि आत्मा की ओर हो जाए। प्रपंच ऐसा ही रहेगा, हमारे अन्दर सुख अटूट धारा के रूप में प्रवाहित होता रहेगा। जैसे समुद्र का पानी खारा होता है, किन्तु यदि मुँह में मिश्री रखकर तैरते रहें तो पानी मीठा लगेगा। शाश्वत आत्म तत्त्व को प्राप्त करने के लिए ही भगवान् कहते हैं, 'भजस्व माम, हे अर्जुन मेरा भजन करने के लिए किस स्थान पर जाओगे-

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः (१०/२० गीता)

मैं आनन्दमय आत्मा प्रत्येक प्राणी के अन्दर उसका सर्वस्व होकर निवास करता हूँ। तुम्हारा शरीर मेरा मन्दिर है और तुम्हारे हृदय में मेरा केन्द्रीय सिंहासन है। उसमें मैं सदा-सर्वदा, उज्ज्वल कोटि सूर्य प्रभा के साथ विराजमान हूँ। मेरी तरफ दृष्टि करो, उपासना के माध्यम से मेरे निकट आने का प्रयास करो, मेरे अन्दर निवास करो। तब तुम्हारे भीतर सदैव ब्रह्मानन्द बना रहेगा। अतः इस प्रकार प्रपंच के स्वरूप को अच्छी तरह से पहचान कर, परिपूर्ण तत्त्व के उपासक बनकर, सदैव सुख और आनन्द को प्रार करना है। भगवान् आपको ऐसा ही करने की शक्ति दें! हरि ॐ।

८

साधना का आन्तरिक स्वरूप

उज्ज्वल आत्मस्वरूप, परमपिता परमात्मा की अमर सन्तान!

साधना का आन्तरिक स्वरूप क्या है? इस विषय में कुछ विचार आपके मननार्थ रखते हुए सेवा समर्पित करना चाहता हूँ।

क्या साधना के आन्तरिक एवं बाह्य दो स्वरूप होते हैं? 'हाँ' होते हैं। एक दृष्टान्त द्वारा समझिए। साधक जप साधना के लिए शरीर को सुस्थिर अवस्था में करके आसन पर बैठता है। आँख बन्द करके माला के हर मनके के साथ प्राप्त इष्ट मन्त्र 'ॐ श्री रामाय नमः, ॐ नमः शिवाय' का उच्चारण करता है। यह इसका बाह्य स्वरूप है। लेकिन इसका आन्तरिक सूक्ष्म स्वरूप क्या है?

मन की सर्वसाधारण गति बहिर्मुख होती है और मन की चेष्टा है--वस्तुओं आदि का चिन्तन करना। मन की चंचल अवस्था के कारण एक वस्तु के चिन्तन से तृप्ति नहीं होती है। यह एक से दूसरी, दूसरी से तीसरी, तीसरी से चौथी वस्तु के चिन्तन में चला जाता है। जैसे बन्दर एक वृक्ष पर बैठे हुए भी एक टहनी पर नहीं बैठता है। कभी इस टहनी पर, कभी उस टहनी पर कूदता रहेगा। आप सबने बन्दर के बच्चों की चेष्टा देखी होगी। मन में भी इस प्रकार की चंचलता है, स्थिरता नहीं। कुछ चिन्तन नहीं करने से नींद आ जायेगी, इसलिए हम चिन्तन कार्य में लगे रहते हैं। चंचलता से विक्षेप के कारण मन एक आधे मिनट में दस-पन्द्रह विषयों के अन्दर चला जाता है। यहाँ बैठे-बैठे एक वस्तु का चिन्तन आया, उसी से सम्बन्धित दूसरे विषय का चिन्तन आया। फिर तीसरे विषय के चिन्तन में मन चला जाता है। एक क्षण में ही मन बम्बई चला जाता है, बम्बई से न्यूयार्क, न्यूयार्क से कहीं और जगह पर चला जाता है। तमाम जगह पर मन घूमता रहता है। जागृति आने पर साधक चौंक जाता है। अरे! मैं तो यहाँ पर क्या

करने के लिए बैठा था? बैठे-बैठे कहाँ पहुँच गया? बहिर्मुखत्व, विषयाकार वृत्ति, चंचलता, विक्षेप-मनुष्य के मन की ऐसी अवस्था है।

हमारा मन अनेक प्रकार के विषय-विकारों का चिन्तन करता रहे तो साधना का आन्तरिक स्वरूप बना नहीं है, कच्चा है। साधना का आन्तरिक स्वरूप है-मन को अन्तर्मुखी बनाना। जप के समय साधक अपने को अन्तर्मुखी बनाने का प्रयास करता है। आँख बन्द कर लेने से बाहर के नाम रूप का दर्शन नहीं होता है। निःशब्द वातावरण में रहने के लिए योगी लोग कानों को रूई आदि से बन्द कर लेते हैं जिससे बाहर के शब्द विक्षेप नहीं करें। हमारे चित्त के अन्दर अति सूक्ष्म क्या-क्या भरा हुआ है, पता नहीं है?

आजकल कम्प्यूटर की छोटी सी चिप में हजारों चीजें डाल देते हैं। चालू करते ही इच्छानुसार सारी चीजें बाहर आने लगती हैं। भगवान् की यह विचित्र सृष्टि है। अन्तःकरण में चित्त की भूमिका में असंख्य वासनाएँ, संस्कार छिपे बैठे हैं। साधक मन को अन्तर्मुखी करके बाह्य जगत् को दृष्टि से निकाल करके आँख बन्द कर लेता है। निःशब्दता के लिए कान बन्द करके आसन पर सुस्थिर तटस्थ बैठ जाता है। ऐसा मत समझना कि साधक का मन भी सुस्थिर और तटस्थ हो गया है। मन के अन्दर कई प्रकार की उथल-पुथल होती रहती हैं। शरीर तो आसन पर बैठा होगा और मन हवाई जहाज में उड़ रहा होगा। इसको मनोराज्य कहते हैं।

धारणा और उपासना में सबसे बड़ा बाधक तत्त्व मनोराज्य है। साधक बैठे-बैठे कल्पना में ब्रह्मा जी की तरह कई प्रकार की सृष्टि कर लेता है। साधक का शरीर सुस्थिर है, हाथ से माला फेर रहा है, लेकिन मन दूसरी जगह चक्कर लगा रहा है। मनोराज्य को रोकने की कोशिश की तो मन निद्रा में चला जायेगा। मनोराज्य को थामने के लिए अन्दर पूरी जागृति चाहिए। निद्रा को हटाने के लिए कुम्भक प्राणायाम करना चाहिए, वैखरी जप करना चाहिए। मानसिक जप में निद्रा का ज्यादा जोर रहता है, आवाज से जप करने पर निद्रा की सम्भावना कम होती है। मन की विक्षेप शक्ति को पूरी तरह से मिटा नहीं सकते हैं, किन्तु इसे काफी मात्रा में कम करके, केन्द्रीकरण कर सकते हैं। जप का उद्देश्य क्या है? जप का उद्देश्य है-मन को भगवद् चिन्तन में लगाये रखना। मन्त्रोच्चार के आधार पर हम मन को केन्द्रित करने का प्रयास करते हैं। केन्द्रीकृत मन को अपने परम लक्ष्य पर टिकने के लिए प्रेरित कर सकते हैं। जप की प्रक्रिया का यह आन्तरिक स्वरूप है।

मन की जिस प्रकार बाह्य जगत् में विषयाकार वृत्ति रहती है, एक विषय से दूसरे विषय पर जाता है, उसी प्रकार मन को अन्तर्मुखी बनाकर सुस्थिर टिकाने के लिए जब हम कोशिश करते हैं तो एक-आध मिनट के लिए अन्दर टिकता है, फिर वहाँ से हट जाता है। अन्य चिन्तन आ जाता है, नहीं तो शून्य हो जाता है। भगवद् चिन्तन भी नहीं, अन्य चिन्तन भी नहीं पता नहीं हम क्या कर रहे होते हैं?

जगद्गुरु भगवान् श्री कृष्णचन्द्र, गीताचार्य इस बात को अच्छी तरह से जानकर के गीता के छठे अध्याय में अर्जुन से कहते हैं कि तुम्हें आज्ञाचक्र पर दृष्टि रखकर मन को केन्द्रीकृत करने के अभ्यास में लग जाना चाहिए। ऐसा करने से तुम्हें शाश्वत शान्ति एवं आनन्द प्राप्त हो सकता है। अर्जुन कहता है कि मन को सुस्थिर करना, रोकना, एकाग्र करना असाध्य है, असम्भव है। कृष्ण भगवान् कहते हैं कि तुम्हें प्रयत्न को नहीं छोड़ना चाहिए। यदि इस प्रयत्न को दीर्घकाल तक अटूट रूप से करते रहोगे तो एक न एक दिन अवश्य सफलता मिलेगी, ऐसा आश्वासन देते हैं। 'पतंजलि योग दर्शन' के द्वारा भी अटूट प्रयास करने की प्रेरणा मिलती है। वे भी कहते हैं कि धारणा एक-दो दिन में आने वाली नहीं है। लेकिन इसमें लगे रहने से एक दम निश्चित रूप से धारणा जरूर आयेगी। हमें बिल्कुल भी निराश नहीं होना चाहिए।

धारणा के अभ्यास में यदि मन में विक्षेप होता है, मन बार-बार इधर-उधर भाग जाता है। इसके पीछे कौन पड़े, ऐसा सोचकर हैरान हो कर मन में अरुचि आ गयी तो साधना रुक जायेगी। साधना के आन्तरिक स्वरूप में

सफलतापूर्वक जाने के लिए रुचि बनाये रखना जरूरी है। जैसे संगीतकार धैर्यपूर्वक तीव्र प्रीति और रुचि के साथ अभ्यास करता है तो आगे जाकर बड़ा उस्ताद बनता है। यदि साधना में रुचि नहीं है, लगन नहीं है और हमने बिना रुचि के पाँच-दस साल अभ्यास किया और विशेष प्रगति दिखायी नहीं दी तो उसे छोड़ देते हैं, साधना में ढीले पड़ जाते हैं। आन्तरिक साधना में तीव्र रुचि के परिणामस्वरूप उसमें बहुत प्रीति उत्पन्न होती है। इससे एकाग्रता की प्राप्ति हो जाती है एवं सफलता अवश्यमेव मिलती है।

साधना का कितना महत्त्व है, हमारी यह निधि है, हमारा सच्चा धन है। इसकी तुलना में अन्य सब मिट्टी के समान है-इस प्रकार की भावना हमारे आध्यात्मिक जीवन के विषय में, साधना के लिए हमारे अन्दर बस जाये तो कितनी भी कठिनाइयाँ आयें, हम साधना को नहीं छोड़ेंगे। बिना फल की प्राप्ति के जन्म भर हम साधना करते मर जायें तो कोई बड़ी बात नहीं है। अन्त काल तक लगातार साधना करते जीवन व्यतीत कर दें तभी हमारा जीवन सफल है। हमने अमूल्य मानव जन्म को पाया है और साधना करने के एकमात्र उद्देश्य से हमें यह मानव शरीर मिला है, इसके अलावा हमें और कोई कार्य ही नहीं है। इसलिए इस कार्य में अन्तिम श्वास तक यदि मैं लगा रहा तो मेरा जीवन सफल है, इस प्रकार से एक दृढ़ निश्चयात्मक बहुत ऊँचा भाव रखें।

किसी साधक ने हमसे आ कर पूछा कि पहले तो हमें ध्यान में बहुत अच्छे अनुभव होते थे, प्रकाश दिखायी देता था, नाद सुनायी देता था। आजकल अनुभव नहीं होने के कारण दुःखी हो गये हैं और हमारे अन्दर निराशा छा गयी है। मैंने कहा, 'क्या तुम इसलिए साधना करते हो! साधना के लिए तुम्हारा यह भाव ही गलत है। इससे ज्यादा परम सौभाग्य क्या होगा कि मानव जीवन प्राप्त करके साधना द्वारा ब्रह्मज्ञान प्राप्त करें, भगवद् साक्षात्कार करें। छोटी-मोटी अल्प अनुभूति को अपना लक्ष्य बनाकर साधना नहीं करनी है। थोड़ी अनुभूति से सन्तुष्ट हो जाना, अनुभूति नहीं हो तो अफसोस करना ऐसा दृष्टिकोण बिल्कुल गलत है। हमारा मन परम लक्ष्य के सिवाय अन्यत्र जाना ही नहीं चाहिए।'

कर्म के फलदाता भगवान् हैं। हमें पूर्ण विश्वास से दिल की सच्चाई के साथ अपना कर्तव्य करना चाहिए। पाप-पुण्य कर्मों के फल देने वाला ईश्वर है। यदि साधक आशारहित होकर निष्काम भाव से भगवद् प्राप्ति के लिए प्रीतिपूर्वक साधना में लग जाये तो क्या भगवान् उसका फल नहीं देगा? इसलिए अपने अन्दर अविश्वास और अनिश्चय भाव मत रखना।

बाइबिल में एक जगह कहा गया है--अपने जीवन को पवित्र, दयामय, उदार, सेवामय, परोपकारी बनाओ। प्रार्थना के द्वारा अपने हृदय को प्रभु के साथ लगाये रखें। इससे आपको मोक्ष साम्राज्य की प्राप्ति अवश्य होगी। भगवान् के धाम में पहुँच कर सदा के लिए भगवान् के साथ रहना होगा। इसके लिए मैं आपको पूर्ण विश्वास दिलाता हूँ। निकट के शिष्यों ने उनके समक्ष शंका प्रकट की। गुरु ईसा ने कहा, 'भाई! तुम इतना अविश्वास और अश्रद्धा क्यों करते हो? प्रपंच बिल्कुल अपूर्ण है, और यहाँ मानव में गुण-अवगुण दोनों हैं। मान लो एक व्यक्ति ने बीस-पचास मजदूरों को काम पर लगा दिया है। कार्य करने के बाद वह उन मजदूरों को उचित रूप से हिसाब करके दैनिक या साप्ताहिक मजदूरी दे देता है या नहीं। यदि साधारण अपूर्ण मानव उनकी मजदूरी दे देता है, तो क्या वह विश्व पिता, उदार परिपूर्ण भगवान् जिनकी सेवा में तुमने अपना पूरा जीवन लगाया है, क्या तुम्हें उचित फल नहीं देगा? क्यों इतना अविश्वास करते हो?'

इस बात को समझाने के लिए दूसरा उदाहरण देते हैं। एक भूखा बालक पिता के पास जाता है और कहता है-पिताजी, पिताजी मुझे भूख लगी है, खाना दो। पिता उसको रोटी देगा या पत्थर निकाल कर देगा। भूख में कोई भी पिता पत्थर निकाल कर नहीं देगा। जब साधारण पिता की भी ऐसी चेष्टा रहती है तो उस विश्व पिता, दयासिन्धु, करुणासागर, सर्वगुणसम्पन्न, अनन्तकल्याणगुणघन, परिपूर्ण भगवान् तुम्हारी भूख को मिटाने के लिए क्या उचित अनुभूति नहीं देगा? इस प्रकार से अपने अन्दर पूर्ण विश्वास एवं श्रद्धा को स्थापित करने के लिए प्रेरित

करते हैं। इसलिए दिल की सच्चाई से, मन, कर्म, वचन, बुद्धि से भगवद् चरणों में समर्पित हो जाना चाहिए। विश्वास रखो, यह निश्चय है कि भगवान् अवश्य मिलेंगे, देरी हो सकती है।

तुम्हारे पीछे कितने अशुभ प्रारब्ध-कर्म हैं, तुम्हें नहीं मालूम। श्री मध्व, जो संन्यास ग्रहण के पश्चात् विद्यारण्य स्वामी के नाम से जाने जाते हैं, बड़े विद्वान् और वेदान्ती थे। उनके पूर्वाश्रम में वे विजयनगर की राजधानी के मन्त्री थे। वे देवी गायत्री के उपासक एवं बड़े भक्त थे। राजधानी के कुछ इलाकों में अकाल पड़ गया। गरीब लोग उनके सामने आकर रोये। उन्होंने गायत्री की उपासना से सोने की अशरफियाँ, मणि-माणिक्य तथा मोतियों का वर्षण करवाया, जिससे गरीब लोग अनाज खरीद कर अपना जीवन निर्वाह कर सकें।

विद्यारण्य स्वामी ने गायत्री की सिद्धि के लिए कई पुरश्चरण किये थे। गायत्री पुरश्चरण बहुत कठिन होता है। पंचाक्षरी मन्त्र, षडक्षरी मन्त्र, अष्टाक्षरी मन्त्र का पुरश्चरण आसानी से हो जाता है। गायत्री का चौबीस अक्षर का मन्त्र होता है, यानि चौबीस लाख जप करना है। यदि इसमें आठ-दस घण्टे रोज बैठें तो दो-ढाई वर्ष लग जाते हैं। स्वामी जी बड़े दृढ़ निश्चय के थे। उन्होंने सोलह पुरश्चरण कई सालों तक किये किन्तु कोई अनुभूति नहीं हुई, दर्शन नहीं हुआ। सुना था कि दो-तीन पुरश्चरण करने पर गायत्री देवी दर्शन देती हैं। यह सब झूठ है, ऐसा समझ कर उन्होंने साधना को छोड़ा नहीं। कैसे भी हो मैं गायत्री के दर्शन करके ही रहूँगा, इस दृढ़ निश्चय के साथ पुरश्चरण करते रहे। लगभग तीस-बत्तीस वर्ष लग गये। सत्रहवाँ पुरश्चरण शुरू करते ही दूसरे दिन भगवती देवी सामने खड़ी हो गयीं और बोलीं- 'बेटा! मैं तुमसे बहुत प्रसन्न हूँ बोलो क्या चाहते हो!' विद्यारण्य ने कहा, 'माँ! पहले मुझे इस बात का जवाब दो, सोलह पुरश्चरण करने तक आप क्यों नहीं आयीं।' जप करते-करते उनका गायत्री माता से अन्दर से घनिष्ठ सम्बन्ध हो गया था। भगवती बोली, 'बेटा! पूर्व जन्म में तुम महापातकी थे, सोलह ब्रह्महत्या तुम्हारे द्वारा हुई थीं। एक-एक पुरश्चरण एक-एक ब्रह्महत्या को साफ करता गया, इससे तुम पूरे के पूरे विशुद्ध हो गये। तब मैंने तुम्हें दर्शन दे दिया। कहते हैं कर्जा अदा करने के बाद ही कमाई से बचत होती है। जितना भी तुमने कमाया, सब कर्जे में चला गया। तुम्हारे पास क्या रह गया ? कुछ भी नहीं। तुम्हारे सोलह पुरश्चरण पापों को भस्म करने में चले गये। इसके बाद तुमने निष्ठा से सत्रहवाँ पुरश्चरण प्रारम्भ किया, मैंने दर्शन दे दिया।' इस प्रकार भगवती स्वामी जी को समाधान देती हैं। स्वामी जी बड़े विद्वान् थे। उन्होंने पंचदशी, जीवन्मुक्ति विवेक आदि अनेक रचनाएँ की हैं। हमें पता नहीं है हमारे पूर्व जन्मों की क्या रूपरेखा है। साक्षात्कार के लिए हम कब तक तैयार होंगे। "**कालेनात्मनि विन्दति**" कालक्रमेण अर्थात् समय आने पर फल स्वयं प्राप्त होगा।

फल की आकांक्षा करना अल्पता है। चीन देश की एक कहावत है--कितना भी लम्बा सफर सौ, पाँच सौ, हजार मील का हो। जहाँ पर तुम हो वहाँ से एक कदम रखो, फिर दूसरा कदम रखो, कदम नापना बन्द मत करो। एक-एक कदम नापते-नापते अन्त में बद्रीनाथ अपने लक्ष्य पर पहुँच जाओगे। इस प्रकार से साधना के लिए अपने अन्दर अटूट अखण्डता को बसा लेना चाहिए। इसके लिए विविध साधनाएँ हैं।

श्री गुरुदेव ने अपनी पुस्तक 'योग संहिता' में लगभग पचास योगों से भी अधिक का विवरण दिया है। जप योग, लय योग, मन्त्र योग, तन्त्र योग, कुण्डलिनी योग, हठ योग के अलावा मुख्य चार योग भक्ति योग, कर्म योग, ज्ञान योग, ध्यान योग तो हैं ही। क्या हर एक योग मार्ग की अनुभूति अलग-अलग प्रकार की होगी? क्या विविध प्रकार के अनुभव प्राप्त होंगे ? क्या हम सब अलग-अलग लक्ष्य पर जा पहुँचेंगे? ऐसा नहीं होता, सभी योग मार्ग की साधनाओं का एक मात्र उद्देश्य ज्ञान द्वारा अज्ञान की निवृत्ति एवं बन्धन से मुक्ति दिलाना है। तापत्रय, चिन्ता, शोक, मोह, दुःख, संकट से सदा के लिए मुक्त हो जाना है। उसके स्थान पर केवल आत्यन्तिक सुख, परम आनन्द के अलावा अन्य कोई लक्ष्य नहीं है।

मानव समाज में पृथ्वी पर जितने भी मतमतान्तर हैं- ईसाई, इस्लामी, यहूदी, पारसी, सिक्ख, बौद्ध, जैन सभी मजहबों की साधनाओं, प्रार्थनाओं का एक ही उद्देश्य है। किसी प्रकार का नकारात्मक अनुभव नहीं हो,

केवल मात्र आनन्द, परम शान्ति, निर्भय अवस्था एवं परिपूर्णता हो। सभी मजहबों ने इसका कल्पना चित्र अपने ढंग से किया है।

हम तो सत्य सनातन वैदिक धर्म के हैं जो किसी विचार या कल्पना पर आधारित सिद्धान्त नहीं है, यह अपरोक्षानुभूति के ऊपर आधारित सिद्धान्त है। हमारे ऋषियों ने अनुभव करके उस सर्वोच्च अवस्था के विषय में घोषित किया। यही अवस्था है तुम्हारे पहुँचने के लायक, इसी के लिए तुम्हें मानव शरीर मिला है। इसके लिए उचित साधना करो, विविध योग मार्ग एवं साधनाओं का एक ही लक्ष्य है। इससे यह सिद्ध होता है कि साधना के बाह्य स्वरूप में विविधता है लेकिन साधना का आन्तरिक स्वरूप एक ही है।

साधना की आधारशिला, प्रवेशिका है-लौकिक जीवन में अतृप्ति। जब तक हम तृप्त हैं तो अन्य अवस्था को प्राप्त करने के लिए कोशिश ही नहीं करेंगे। जब इस प्रपंच एवं सांसारिक जीवन में दोष देखेंगे तभी हम किसी अन्य अवस्था को प्राप्त करने की अभिलाषा रखेंगे। सच्चे साधक में सकारात्मक एवं दार्शनिक दोष दृष्टि होनी चाहिए। इस जगत् में जो कुछ भी है सब अपूर्ण, नाशवान्, परिवर्तनशील है, इन पर भरोसा नहीं कर सकते हैं। थोड़ा सा सुख देकर अन्त में दुःख में परिणत हो जाते हैं। इनमें कोई तथ्य नहीं है, निष्प्रयोजन हैं, भूसा मात्र है। इस प्रकार जगत् के सभी वस्तु पदार्थ एवं समस्त विषय भोग के बारे में दोष दृष्टि होनी चाहिए।

विचार और विवेचन से दोष दृष्टि आती है। एक बार जब हम प्रपंच के वस्तु पदार्थों के वास्तविक स्वरूप को जान लेते हैं तो अपने आप मन वहाँ से हट जाता है, कुछ नहीं है, बेकार है। यह दोष दृष्टि साधना की प्रारम्भिक अवस्था है। दोष दृष्टि के कारण जब अतृप्ति होती है, यहाँ पर यह चीज नहीं है, तो अन्यत्र उसकी प्राप्ति हो सकती है या नहीं, हम खोज करने लग जाते हैं। तब जा करके हमें ऋषि-मुनियों की अनुभूति श्रुति-स्मृति, शास्त्र, पुराणों के द्वारा प्राप्त होती है। वे निश्चयात्मक भाव से बोलते हैं, 'हाँ, बिल्कुल है। वह अवर्णनीय अत्यन्त आनन्द की स्थिति है जिसकी प्राप्ति निश्चयमेव सम्भव है। इसकी प्राप्ति के लिए विचारयुक्त मानव अवस्था ही सर्वोत्तम अवस्था है।' जब एक जीवात्मा ने मानव शरीर प्राप्त किया तो उसके लिए मोक्ष द्वार खुल जाता है। परमानन्द की प्राप्ति तुम्हारा जन्म सिद्ध अधिकार है, उसको प्राप्त करने की कोशिश में लग जाओ ।

कैसे भी करके भगवान् को प्राप्त कर लें, इस प्रकार की आकांक्षा रख कर जब हम साधना मार्ग में प्रवेश कर लेते हैं, हमें मन और इन्द्रियों की पुरानी आदतों एवं संस्कारों से संघर्ष करना पड़ता है। जब तक हमारे जीवन में विवेक, विचार की जागृति नहीं हुई थी, इसी को सब कुछ समझकर विषय भोग में लगे रहे। मन इन्द्रियों को ऐसी चेष्टा करने की आदत पड़ गयी, ऐसा स्वभाव बन गया। बुद्धि कहती है कि विषय वस्तु का त्याग करके परम लक्ष्य की तरफ जाना चाहिए, लेकिन मन नहीं मानता है। साधक के अन्दर मन और बुद्धि के बीच संघर्षात्मक परिस्थिति बन जाती है। पंचेन्द्रिय द्वारा जो तृप्ति की आदत पड़ गयी है, मन उसे छोड़ नहीं पाता है। आध्यात्मिक जीवन में साधना मार्ग पर चलने के बाद भी मन-इन्द्रियाँ इस प्रकार की बाधाएँ देते रहते हैं। विषय वस्तुओं की तरफ से मन को हटा करके तथा जहाँ मन नहीं जाना चाहता है, उस दिशा में बलपूर्वक प्रवृत कराना, यह साधना का आन्तरिक स्वरूप है। मन की आशा-तृष्णाओं के साथ संघर्ष, इन्द्रियों की विषयों की ओर जाने की पुरानी आदत के साथ संघर्ष साधना की प्रारम्भिक अवस्था में होता है।

हमारे पूर्वजों ने मन-इन्द्रियों को वश में लाने के लिए व्रत, नियम आदि बताये हैं। जैसे एकादशी, अमावस्या, पूर्णिमा, रामनवमी, जन्माष्टमी, शिवरात्रि, नवरात्रि, निर्जला एकादशी आदि व्रतों पर अनाज आदि का सेवन नहीं करना चाहिए । फलाहार करके जागरण करना चाहिए। इन्द्रियों पर नियन्त्रण करने से विषय भोग की आदत में परिवर्तन आ जाता है। अन्य उपाय भी बताये गये हैं--प्रातःकाल उठकर शीतल जल से नहाना। प्रातःकालीन साधना पूरी करने के बाद ही नाश्ता लेना। त्रिकाल सन्ध्या में एक सौ आठ बार गायत्री जप का विधान है। जप किये बिना आहार ग्रहण नहीं करना चाहिए। इस प्रकार के निर्बन्धनों द्वारा इन्द्रियों पर नियन्त्रण करके मन

की आदत में परिवर्तन करने के लिए संयम साधना | बतायी है। संयम के साथ-साथ बुद्धि के द्वारा मन को समझाते रहना चाहिए-इसमें तुम्हारा कल्याण नहीं है, बाद में जाकर तुम्हें रोना पड़ेगा। बार-बार समझाकर मन में विषय पदार्थ के प्रति जो राग है, व्यक्ति विशेष के प्रति जो अनुराग है उसको हटा करके वैराग्य को स्थापित करना है। वैराग्य के बिना आध्यात्मिक जीवन नहीं हो सकता।

भगवान् श्री कृष्ण ने अर्जुन को मन पर नियन्त्रण करने तथा ध्यान करने की प्रक्रिया को समझाया। अर्जुन कहता है कि मन बड़ा चंचल है इसको रोकना कठिन है। भगवान् कहते हैं-दृढ़ वैराग्य द्वारा मन पर विजय प्राप्त कर सकते हैं। यह विषय नहीं है विष है, ऐसा समझ करके दृढ़ वैराग्य होगा। विषय के ऊपर से अनुराग को छोड़कर दोष दृष्टि से देखने पर इसमें सुख नहीं है, दुःख का कारण है, अन्त में पश्चात्ताप करना पड़ेगा। इस प्रकार विचार करने से वैराग्य होगा। वैराग्य के द्वारा ही हमारी साधना में प्रगति होती है, इसकी सुरक्षा बहुत जरूरी है। जैसे फसल प्राप्त करने के लिए जमीन को हल द्वारा तैयार करते हैं। बीज बोकर पानी से सिंचाई करते हैं। सेवा करते-करते फसल तैयार हो जाती है। फसल को गाय, भैंस आदि नष्ट नहीं करें, सुरक्षा के लिए बाहर से बाड़ लगाते हैं। फसल जब पक जाती है तो किसान रात-दिन पहरा देता है, कहीं चोर आ कर ले नहीं जायें, पक्षी चुग नहीं जायें। मचान बनाकर पक्षियों को भगाता रहता है।

हमारी साधना का कुछ भी स्वरूप हो-जप, ध्यान, संकीर्तन, उपासना, कुण्डलिनी योग आदि-उसकी सुरक्षा वैराग्य द्वारा ही होगी। प्रपंच की ओर ले जाने वाले पिछले संस्कार और वासनाएँ हमारे साथ लड़ते ही रहते हैं। सच्चा साधक सत्संग, श्रवण-मनन, स्वाध्याय, विवेक, विचार द्वारा नये सक्रिय सकारात्मक संस्कारों को जाग्रत करता है तथा नकारात्मक संस्कारों एवं विचारों का निरोध करता है । साधक को निरोध के लिए चौबीस घण्टे जाग्रत रहना चाहिए। साधना के लिए जो अनुकल नहीं है, लक्ष्य प्राप्ति के विपरीत है उसका निर्मूलन करके उखाड़ कर फेंक देना चाहिए। विचार द्वारा प्रपंच में दोष दृष्टि, वर्तमान परिस्थिति में अतृप्ति, पूर्णता को प्राप्त करने के लिए अभिलाषा, इन्द्रिय तृप्ति की आदत को परिवर्तित करने के लिए संयम, यम-नियम आदि का परिपालन, बुद्धि के द्वारा मन को समझाकर दृढ़ वैराग्य को स्थापित करना। यह सब साधना के आन्तरिक स्वरूप को सुदृढ़ करने की सामग्री है।

इन्हीं शब्दों को गुरु चरणों में, आपके अन्तःस्थित परमात्मा के चरणों में पुष्पांजलि रूप में अर्पित करते हुए वाणी को विराम देते हैं।

हरि ॐ तत्सत्।